विद्यावाचस्पति-कविशिरोमणि-गद्यसम्राट्-साहित्याचार्य-

महामहिमोपाध्याय-

श्रीनवलकिशोरकाङ्कर-रचितं

शास्त्र-सर्वस्वम्



भूमिका लेखकः

डॉ० गङ्गाधरभट्टः, एम.ए.

राजस्थान-विश्वविद्यालये संस्कृतविभाग



सम्पादकः

व्याकरण-साहित्य-सांख्ययोगाचार्यः वैयाकरणकेसरी

डॉ० नारायणशास्त्री काङ्करः, एम.ए., पी-एच.डी.

राष्ट्रियायुर्वेदसंस्थाने संस्कृतप्राध्यापकः, जयपुरम्

प्राप्तिस्थानम्

रमेश बुक डिपो, जयपुर



प्रकाशकम् —
विद्याविभव-भवनम्
सुमेरुकर्णमार्गः, रामगञ्जः, जयपुरम्-२

मुद्रकः —
श्रीहरिनाम प्रेस,
वृन्दावन (उ० प्र०)

मूल्यं पञ्चदश रूप्यकाणि
१९७८

भूमिका

इसमें स्वल्प भी सन्देह नहीं है कि संस्कृतभाषाके अपार पारावारमें अनन्त शास्त्ररत्न भरे पड़े हैं जो उसके अन्तस्तलमें पहुँचने पर ही प्राप्त हो सकते हैं। वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराण, इतिहास, काव्य-साहित्य, नीति, विज्ञान इत्यादि एक-एक शास्त्र इतने गहन और अनन्त हैं कि जीवनभर अध्ययन करके भी मानव इनका पार नहीं पा सकता। इसीलिए एक अनुभवी विद्वान्ने लिखा है कि "अनन्तपारं किल शास्त्रजातं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः" अर्थात् शास्त्र अनन्त हैं, उनके अध्ययन के लिये आयु अल्प है और फिर उसमें भी बहुत विघ्न हैं। बस, इसीलिए संस्कृत वाङ्मयके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीकाङ्करजीने प्रस्तुत पुस्तकमें अपने नये ढंगसे वेद, दर्शन और साहित्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख विषयोंका सर्वस्व प्रदर्शित करनेका प्रयास किया है। काङ्करजी म० म० श्रीमधुसूदनजी ओझासे अध्ययन किये हुए हैं, अतः आपने वेदके अन्य विषयोंके साथ वैदिक-विज्ञान, वेदतत्त्व, वेदोंके पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व आदिके विवेचनमें उनकी ही शैली अपनायी है।

आपके विचार से मानवमेधासे सम्बद्ध शब्दात्मक वैदिक पुस्तकें वेद नहीं हैं, क्योंकि स्वयं वैदिक ग्रन्थोंमें वेदको कहीं

पर सविता कहा है, कहीं पर वेदत्रयीके साथ प्रजापतिका आपोमण्डलमें प्रवेश होना बताया है, कहीं पर वेदसे मूर्तिमान् भूतपिण्डोंकी उत्पत्ति बतायी गई है तो कहीं पर मण्डलको ऋक्, अर्चिको साम और पुरुषको यजुः कहा है। ऐसी स्थितिमें लेखक की मान्यता है कि वर्णाक्षर-पद-वाक्य-मन्त्र-समष्टिरूप शब्दात्मक वेदग्रन्थ न सविता हो सकते हैं, न प्रजापति उन वेद-पुस्तकोंके साथ जलमें प्रविष्ट होकर उन्हें सुरक्षित ही रख सकता है और न कोई मनस्वी ऋक् संहितासे भूतपिण्डोंकी उत्पत्ति मान लेनेको ही प्रस्तुत हो सकता है। अतः वेदतत्त्व निश्चितरूपसे कोई भिन्न ही है। हाँ मौलिक वेदतत्त्वकी स्वरूप-व्याख्या करनेके कारण ताच्छब्द्य न्यायसे ये शब्दात्मक वेदसंहितादि ग्रन्थ भी वेदनाम से व्यवहृत होने लग गये हैं और वही मौलिक वेदतत्त्व अपौरुषेय है।

एक जगह आपने लिखा है कि हमारे महर्षियोंने जिस तत्त्व या विद्याको समझानेके लिए जिस शब्दका प्रयोग किया है, उसी शब्दमें उस तत्त्व अथवा विद्याके मौलिक स्वरूपकी व्याख्या निहित करदी है। जिस तरह हृदय विद्याको समझानेके लिये 'हृदयम्' इसी शब्दमें इस विद्याका रहस्य भी सङ्केतित कर दिया है। इस शब्दमें तीन अक्षर हैं—हृ, द और यम्। हरणार्थक हृञ् धातुसे 'हृ' अक्षर लिया गया है, अवखण्डनार्थक 'दो' धातु से 'द' अक्षर गृहीत हुआ है और 'यम्' अक्षर इन दोनोंके नियामकरूपसे स्वीकृत है। इन तीनोंका अर्थ है क्रमशः—आहरण, खण्डन और नियमन। आहरण भाव ही आदान अथवा संग्रह कहलाता है, खण्डन भावको ही विसर्ग तथा त्याग कहते हैं। वस्तुकी आहरण, आदान और सङ्ग्राहिका शक्ति 'हृ' अक्षरसे प्रकट होती है, जो विसर्गात्मिका शक्ति समागत पदार्थोंको

वापस फेंकती है वह 'द' अक्षरसे सूचित होती है तथा जिस तीसरी नियामिका शक्तिका आश्रय लेकर ये दोनों आदान-विसर्ग क्रियायें व्यापार करती हैं वह प्रतिष्ठा शक्ति 'यम्' अक्षरसे व्यक्त होती है। वैदिकपरिभाषानुसार विसर्गात्मिका शक्तिके लिये प्राणन एवं आहरण शक्तिके लिए अपानन शब्द नियत है। वस्तुपिण्डके केन्द्रसे परिधिकी ओर जाना प्राणन है, यही विसर्ग है और परिधिसे केन्द्रकी ओर आना अपानन है, इसीको आदान कहते हैं। इन दोनोंका जिस मूल बिन्दुपर नियमन होता है वह मध्यस्थ व्यानन कहा जाता है और इसीके आश्रयपर प्राणी प्राणनरूप श्वासक्रियासे एवम् अपाननरूप प्रश्वासप्रक्रियासे जीवित रहता है। इनमें प्राण 'द' है, अपान 'हृ' है और व्यान 'यम्' है। इस प्राणत्रयीके समवेत रूपको ही 'हृदयम्' कहते हैं।

वैदिक परिभाषामें हृदय, उक्थ, गर्भ और नाभि ये सब शब्द केन्द्रके वाचक है। केन्द्रमें जो स्थिति या प्रतिष्ठातत्त्व है उसके धरातलपर गतितत्त्व उत्पन्न होता है। वह गति जब केन्द्रसे परिधिकी ओर जाती है तब तो उसको गति ही कहते हैं किन्तु जब वही गति परिधिसे केन्द्रकी ओर प्रत्यागमन करती है तब उसको संज्ञा आगति हो जाती है और यही वह उपर्युक्त हृदय है। इस केन्द्र या हृदयके विकासपर ही वृत्तका स्वरूप बनता है और वृत्त या मण्डल ही भूतपिण्ड कहलाता है। वस्तु या भूतपिण्डके केन्द्र, व्याम और परिधिकी संज्ञाएं ही क्रमशः यजुः, ऋक् और साम इन नामोंसे व्यवहृत हैं और यह ही मौलिक वेदतत्त्व है जिससे सृष्टिका निर्माण होता है। इस तरह अनेक जटिल विषय इस पुस्तकमें लेखकके द्वारा बड़े सरल ढंगसे प्रस्तुत किये गये हैं।

वैदिक — विज्ञान — प्रकरणमें केन्द्राकर्षणशक्तिविज्ञान-विप्रकृष्टावलोकनविज्ञान-सौरविज्ञान-वृष्टिविज्ञान प्रभृतिके प्रदर्शन के साथ लेखकने यह भी बताया है कि पाश्चात्योंसे हजारों वर्ष पूर्व ही हमारे प्राचीन वैज्ञानिक महर्षि पृथ्वीका अपने अक्ष पर प्रात्यहिक भ्रमण सिद्ध कर चुके हैं। एक जगह आपने यह भी सिद्ध किया है कि पूर्वकालमें सूर्यग्रहणके अवसरपर महर्षि अपने यन्त्रविशेषसे उसका परीक्षण करते थे। काङ्करजीका कहना है कि प्रत्यक्षज्ञान मात्रपर आश्रित आधुनिक विज्ञान आज तक जहाँ केवल पृथिवी, चन्द्रमा और सूर्य मण्डलका ही ज्ञान प्राप्त कर सका है वहाँ हमारा प्राक्तन वैदिक विज्ञान इससे भी आगे अनुसन्धान करके सिद्ध कर चुका है कि इन तीनों मण्डलोंके अतिरिक्त परमेष्ठिमण्डल और स्वयम्भूमण्डल भी हैं जिनसे इन अन्य मण्डलोंका सञ्चालन होता है।

एक जगह यहाँ ऋषितत्त्वके विवेचनमें तीन प्रकारके ऋषि बताये गए हैं—सृष्टिप्रवर्तक, वेदप्रवर्त्तक और गोत्रप्रवर्तक। इनमें सृष्टिके आदिप्रवर्तक ऋषि प्राणरूप हैं और इनका प्रत्यक्षीकरण लौकिक इन्द्रियोंसे असम्भव है,किन्तु जिन मानव महर्षियों ने अपने तपोबलसे ज्ञानदृष्टिके द्वारा इन प्राणरूप महर्षियोंको प्रत्यक्ष करके उन ऋषिपदार्थोंको सबके सम्मुख उपस्थित किया है वे भी उन ऋषितत्त्वोंके उपदेष्टा होनेके कारण एवं उन प्राण-तत्त्वोंके साथ सम्बद्ध होनेके हेतु उन्हीं नामोंसे प्रसिद्ध हो गए हैं। अगस्त्य-कश्यप-भृगु इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध विद्वान् महर्षिलोग उन-उन ऋषिप्राणतत्त्वोंके प्रवर्तक होनेके कारण ही इन नामोंसे कहे जाने लग गये, वस्तुतः ये इनके केवल यथोनाम ही हैं। प्रारम्भमें अवश्य ही इनके कोई अन्य नाम होंगे। ये ही वेद-प्रवर्त्तक ऋषि हैं।

इस प्रकार वेदसम्बन्धी अनेक विषयोंका नवीन शैलीसे विवेचन करके इसमें दर्शनशास्त्रके कतिपय आवश्यक विषयोंका भी विश्लेषण किया गया है। 'दर्शनानि त्रीणि वा षट्' इस लेखमें श्रीकाङ्करजीने दार्शनिकोंके लिए एक नया प्रश्न उत्पन्न कर दिया है, क्योंकि अबतक यही पुरातनी रूढ़ि चली आ रही है कि दर्शन छः हैं, किन्तु आपने अनेक युक्तियोंसे न्याय और वैशेषिकको एवं साङ्ख्य और योगको पृथक्-पृथक् दर्शन स्वीकृत न करके पूर्वमीमांसा दर्शनको भी कर्मकाण्ड-विधि-विवेचनात्मक बताते हुये इसे भी दर्शनकोटिमें नहीं माना है। इस तरह इन्होंने वेदशास्त्रानुगत तीन ही दर्शन सिद्ध किये हैं—वैशेषिक, साङ्ख्य और वेदान्त। एक प्रकरणमें आपने दार्शनिक दृष्टिसे सृष्टि क्रममें परमेश्वरकी उपयोगितापर विचार करते हुये पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का भी अच्छा विवेचन किया है।

अन्तिम साहित्य-विभागमें जहाँ इससे सम्बद्ध काव्य-स्वरूप-लक्षणा-व्यञ्जना-रस-अलङ्कार आदि विषयोंका विवेचन किया गया है वहाँ एक प्रकरणमें आपने बड़ी ही रोचक शैलीसे वाङ्मय संसारमें साहित्यशास्त्रका सार्वभौम राज्य भी सिद्ध किया है, जो विद्वानों के मनन योग्य है।

मैं समझता हूँ, 'शास्त्र-सर्वस्वम्' यह पुस्तक अपने नामके अनुकूल ही लिखी गई है। श्रीकाङ्करजी संस्कृतगद्यके और पद्यके माने हुये लेखक हैं। प्रयागमें भारतवर्षभरके जिन कतिपय उत्कृष्ट विद्वानोंको महामहिमोपाध्याय अलङ्करण प्रदान किया गया है, उनमें एक काङ्करजी भी हैं। आपका एक गद्यकाव्य उत्तर-प्रदेश शासनके द्वारा एक हजार रुपयोंसे पुरस्कृत हो चुका है, राज-स्थान शासनने भी आपको ढाई हजार रुपयोंका पुरस्कार प्रदान

किया है और एक छोटी किन्तु परम उत्कृष्ट पद्यपुस्तिका पर भी आपको पांचसौ रुपयोंका पुरस्कार दिया है। साहित्य अकादमी ने भी अभी प्रतियोगितामें आपको एक उत्कृष्ट रचना पर तीन हजार रुपयोंके भाषस्मृति पुरस्कारसे सम्मानित किया है। मुझे विश्वास है, आपकी यह रचना भी अन्य कृतियोंकी भाँति इसी तरह ख्याति प्राप्त करेगी और साहित्य एवं राष्ट्रके अभ्युत्थानमें सहयोग देगी।

राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

गंगाधर भट्ट
(संस्कृत-विभागाध्यक्ष)

अनुक्रमणिका

महामहिमोपाध्याय-विद्यावाचस्पति-कविशिरोमणि-गद्यसम्राट्-
श्रीनवलकिशोरकाङ्कर-लिखितं

शास्त्र-सर्वस्वम्

मङ्गलाशंसनम्

[१]

अच्छा सूनृता वाच ईरयन्ती
या मन्द्रा वदन्त्यविचेतनानि ।
ऋतावरी रुरुचे रण्वसंदृक्
सरस्वतीं तां नमसा हुवे नु ॥

[२]

सौपर्वणीह सौवर्णी वाणी विजयतेतराम् ।
प्राणन्ति यत्प्रसादेन संसारे सकला गिरः ॥

[३]

ये मे वाचि विराजिता अविरतं तन्वन्ति वाग्वैभवं
वैदुष्यं वितरन्ति ये किमपि मे सारस्वतं शाश्वतम् ।
ध्यानावस्थितिमेत्य ये च मविकं नित्यं दिशन्त्येव मे
झोपाह्वान् मधुसूदनार्यचरणान् तान्नौमि विद्यागुरून् ॥

[४]

चायं चायं प्ररोचिष्णुं ग्रन्थसारं समासतः ।
विद्वन्मनो—विनोदाय शास्त्रसर्वस्वमारभे ॥

ऋषि-विमर्शः

अखिलेऽपि क्षोणीखण्डे नास्ति तादृशः कोऽपि भूखण्डो यत्र ज्ञानविज्ञानानुसन्धानाय नापेक्ष्यते वेदानुग्रहः। यतो निखिलवाक्प्रपञ्चानामुद्गमो महामहिमवतो हिमवतो भागीरथीप्रवाह इव निःशेषज्ञानविज्ञाननिधेर्वेदादेवेति सप्रतीतिपूर्णं वचः। अयं हि अज्ञानतमपटलोत्पाटनपटीयान् वेदप्रभाकरः सरस्वतीतटे तपश्चरतां दिव्येन चक्षुषा निखिलमर्थजातं प्रत्यक्षीकुर्वतां पूर्वेषां महर्षितल्लजानां पावने हृदयाङ्गने प्रथमोदयमाससाद। भवत्यत्र श्रुतिः:–

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥
(ऋ. १०.७१.३)

मन्त्रोऽयं तत्र आश्वलायनश्रौत (३.८) सूत्रानुसारं वाग्देवत्यपशोर्वपापुरोडाशप्रकरणे पठितः। तदत्र वेदराशिग्रन्थेषु पदे पदेऽस्य ऋषिशब्दस्य व्यवहारो भवति, वेदमधिजिगांसमानानाञ्च मानसं परमं भावयन्ती तद्व्यवहृतिर्मनागान्दोलयिषति तत्। अतस्तदेव व्यक्तिर्जिगिषुणा मयकाऽत्र ऋषिविचारः संक्षेपतः प्रस्तूयते।

वैयाकरणास्तावद् 'ऋषी गतौ' इत्यस्माद् धातोः ऋषिशब्दं संसाध्य ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति समुद्घोषयन्तो 'जानात्यसौ सूक्ष्मानर्थान्' इति ऋषिः, एवमृषिशब्दव्युत्पत्तिं निर्दिशन्ति। निरुक्तकारो यास्कोऽपि 'ऋषिर्दर्शनात्' (२।३।१२) इत्युल्लिख्य

तमेव पन्थानमनुसरति। वेदेषु ऋषिशब्दोऽयं विभिन्नेष्वर्थेषु प्रयुक्तः प्राप्यते। कुत्रचिदयमतीन्द्रियस्यार्थस्य द्रष्टा (तै. सं. २।१।■, तद्भाष्येऽपि) सममन्यत, कुत्रचिदेव शब्दो मन्त्रार्थे (तै.सं. १.४.२४) प्रयुक्तो दृग्गोचरीभवति, अन्यत्र वसिष्ठाद्या ऋषिवाचकाः शब्दाः प्राणरूपमर्थं (तै. सं. ४.३.२) प्रकटयन्तो विलसन्ति, परत्र च भार्गवमृषिं होतारं (तै. सं. १.६.११ तत्सायणभाष्येऽपि) विनिर्दिश्य वायुरूपं प्राणरूपं वा स्वीकुर्वन्त्याचार्याः। एकस्मिन् स्थले (तै. सं. ५.६.१) कश्यपमृषिं प्रजापतिं स्वीकृत्याद्ध्यस्तदुत्पत्तिं प्रकटयति स्वयं वेदः। गोपथब्राह्मणे (पू.१.६) आङ्गिरसेभ्य ऋषिभ्यो वेदोद्भूतिरुपलभ्यते। शतपथे (८.६.१.५), ऐतरेये (२।२७) च ब्राह्मणेऽप्ययमृषिशब्दः प्राणवाचकः प्राप्यते। एकत्र वसिष्ठर्षिरपि (श.ब्रा. ८.१.१.६) प्राणरूपः प्रतिपादितः, विश्वामित्रश्चर्षिः (श.ब्रा ८.१.२.६) श्रोत्ररूपेण स्वीकृतः। यत्र तत्र चायं सामान्य ऋषिशब्दो नक्षत्रवाचकः(श.ब्रा. २.१.२.४) अनूचानवाचकोऽपि (श.ब्रा.४.३ ४.१६) नेत्रातिथितामागतः। ऋग्वेदेऽयं शब्दः ऋतूनां विशेषणरूपेणापि प्रायुज्यत। ऋषिशब्दं व्याकुर्वन् महर्षियाज्ञवल्क्यः प्राह— "इदमित्थन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्,तस्माद् ऋषयः"(श.ब्रा.६.१.१ १) मैत्रायणीसंहितायां (४.१.२) ऋषयः कवयः प्रोक्ताः। एवं विभिन्नरूपेण प्रयुक्तमृषिशब्दं वयमिह चतुर्षु विभागेषु विभजामः प्राणरूपः ऋषिः, नक्षत्ररूपस्ताराख्पो वा ऋषिः, तत्त्व द्रष्टृ रूपः ऋषिः, वक्तृरूपश्चेति।

तत्र तावत् प्राणतत्त्वस्य विधारणशक्तिः सर्वविदितैव वर्वर्ति। प्राणा एव सर्वपदार्थानामाधारस्तम्भरूपेण स्वीक्रियन्ते। अनयैव प्राणशक्त्या सर्वाणि विशकलितानि परमाणुतत्त्वानि समवेतानि तिष्ठन्ति, क्षीणायाञ्च तस्यां सर्वे पदार्था निष्प्राणाः

कथ्यन्ते । शतपथब्राह्मणे सृष्टिविषयकप्रकरणे प्राणानुद्दिश्य प्रसङ्गोऽयं प्राप्यते "असद्वा इदमग्र आसीत्, किन्तदासीत् । ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासन् । के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषय इति" अर्थात् सृष्टेरादौ सर्वोऽयं सृष्टिप्रपञ्चोऽसद्रूप आसीत् । स च ऋषिपदार्थ एव । ऋषयश्चामी प्राणशब्देन व्यवह्रियन्तेस्मेति ।

यद्यप्यत्र प्राणा असद्रूपाः कथिताः, किन्तु नात्र भ्रमितव्यम् । अस्यायमाशयो यद्विश्वेऽत्र प्राणवन्तः पदार्था एव सद्रूपाः। स्वयं प्राणे तदतिरिक्तं न किमप्यन्यत् प्राणतत्त्वमवतिष्ठते । अतः सदभावे तत्तत्त्वमसच्छब्देनेह कथितम् । यथा वैशेषिकनास्ते द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता स्वीक्रियते, तेन च त्रयोऽमी पदार्थाः सत्-स्वरूपा मन्यन्ते स्वयं सत्तायां कस्याश्चन अन्यसत्ताया अभावात् सत्ता न सच्छब्देनोच्यते, तथैव सांसारिकपदार्थेषु प्राणानां स्थितया ते सदास्याः, किन्तु स्वयं प्राणेषु कस्याश्चनान्यप्राण-शक्तेरभावात्तेऽसच्छब्देन कथ्यन्ते । अयमस्ति प्राणरूपः ऋषिः ।

प्राणतत्त्वातिरिक्तं ताराहृपेणापि ऋषिशब्दव्यवहरण-मुपलभ्यते । यथा–'एकं द्वे त्रीणि चत्वारि वाऽन्यानि नक्षत्राणि । अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकाः । ऋक्षाणां ह वा एता अग्रे पत्न्य आसुः । सप्तर्षीन्नु ह स्म पुरर्क्षा इत्याचक्षते..................अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति पुर एताः' (श.ब्रा. २.१.२.१-४) इति । एवमिह श्रुतेरनु-सारमृक्षशब्दापरपर्यायास्ताराः प्राचीनेऽत्रेहसि सप्तर्षिशब्देन व्यवह्रियन्ते स्मेति । अथान्यत्राप्येवं स्मर्यते–

त आयजन्त द्रविणं समस्मा
ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते
ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ (ऋ.१०.८२.४)

अत्र तारारूपेण विद्यमानानामृषीणामखिलोकं स्वसंस्थानमभिहितम्। एवं बहुषु मन्त्रेषु ये ऋषिशब्दाः प्राप्यन्ते ते सर्वे तारारूपा रोचनारूपा वा वक्तुं शक्यन्ते।

अथ तत्त्वद्रष्टृरूपेऽपि ऋषिशब्दप्रयोग उपलभ्यते। यास्को ब्रवीति—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरिति" अस्यायमेवाशयो यत् पूर्वं मन्त्रद्रष्टारो महर्षयो महात्मानः स्वविशिष्टज्ञानेन वस्तुधर्मं प्रत्यक्षमनुभूयान्येभ्यः साधारणलोकेभ्य उपदेशपद्धत्या मन्त्रानददुः। एतेनेदं सिध्यति यत्सृष्टेः प्रारम्भिके युगे तपसा विशिष्टविज्ञानशक्त्या वा ये सूक्ष्मातिसूक्ष्मानिन्द्रियविप्रकृष्टपदार्थगुणधर्मान् प्रत्यक्षीकृत्येमान् वेदमन्त्रानुपदिदिशुस्ते तत्त्वद्रष्टृत्वादृषिनाम्नाऽकथ्यन्त। इमे हि मन्त्राणां शाब्दिकरचयितृत्वात्तथा तत्तन्मन्त्रेषु निहितस्य विशिष्टतत्त्वस्य प्रत्यक्षीकरणान्मन्त्रकर्त्तारो मन्त्रद्रष्टारश्चोभयविधा एव समाख्याताः। तैत्तिरीयब्राह्मणेऽप्येवमुपलभ्यते—

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥
(२-७-७)

अत्रापि मनीषिभिर्मन्त्रकृद्भिर्देवकल्पैर्महर्षिभिः कृता देव्या वाचः स्वरूपसिद्धिः प्राप्यते। तैत्तिरीयारण्यकमन्त्रोऽपीमं भावं द्योतयति—"नम ऋषिभ्यो मन्त्रपतिभ्यः" (४.१.१) इति। गोपथशतपथप्रभृतिश्रुतिग्रन्थेष्वपि प्रसङ्गोऽयं लभ्यत एव। तेन ऋषीणां मन्त्रकर्तृत्वं सिध्यति। अत्रभगवान् तित्तिरिः स्पष्टमुपदिदेश—

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत् । तदृषयोऽभवन् । तद् ऋषीणामृषित्वम् ॥ इति (तै०आ०२।९)

अर्थात्तपःप्रवृत्तानामज-पृश्निशब्दाभिधेयानां महर्षीणां हृदये स्वयं ब्रह्मज्ञानं=वेदज्ञान समुद्भूतम्। वेदो ब्रह्मेति जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे (४-११-४-३) स्वीकृतमेव । अत एव च तेषामृषित्वव्यवहारः । वस्तुतत्त्वस्य ज्ञानाधिगत्या प्रत्यक्षीकरणाच्च ते ऋषयः आप्ताः साक्षात्कृतधर्माणश्चोच्यन्ते । भाष्यकारो वात्स्यायनो न्यायसूत्र विवृण्वन् व्याहरति– आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः,तया प्रवर्तते–इत्याप्तः।स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् । यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थः, यस्यामुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः। एवमृषि—लौकिकवाक्यानां विभागः इति । तदित्थं वात्स्यायनमतानुसारमपि तपसाऽतीन्द्रियादिवस्तुधर्माणां प्रत्यक्षद्रष्टार ऋषयो भवन्ति,त एव चाप्तशब्दाभिधानाः सन्ति । इमे एव हि तृतीयकोटिगतास्तत्त्वद्रष्टार ऋषयो बोध्याः।

मन्त्रसंहितासु कतिपये प्रसङ्गा ईदृग्विधा अपि विद्यन्ते यत्र वक्तृरूपेणर्षिशब्दव्यवहारो दृश्यते । यद्यपि वस्तुतस्तु तत्त्वद्रष्टृणामेव महर्षीणां वक्तृत्वं प्रसिध्यति किन्तु यत्र तत्र ते परमुखेनापि स्वविचारान् प्रकटयन्तो दरीदृश्यन्ते । यथा साहित्यविदः प्रौढोक्तिसिद्धादर्थादतिरिक्तमन्यमेकं कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धमप्यर्थं पृथग्रूपेण मन्यन्ते तथा वेदेष्वप्यत्र बोध्यम् । इहापि द्रष्टारो महर्षयोऽन्यमुखेन स्वकीयमर्थं प्रकटयन्ति । इमे एव हि वक्तृरूपा ऋषयः सन्ति । एतानुद्दिश्यैव निरुक्तकारेणोट्टङ्कितं–यस्य वाक्यं स ऋषिरिति ।

अथ च ऋषिशब्दं व्याकुर्वाणैर्वाग्देवीवदनायमानवदनैरस्मद्गुरुचरणैः स्व० म. म. श्रीमधुसूदनमैथिलैर्वहुत्र स्वग्रन्थेषु

मीमांसाशास्त्रमनुरुध्येदमप्युल्लिख्यते यदृषिशब्दस्यैक एव प्रधानोऽर्थः प्रवर्तकत्वरूपः स्वीकार्यः, तथा गत्यर्थकस्य ऋषीधातोः प्रवर्तकरूपोऽप्यर्थः सम्यगुपपन्नो भवति।प्रवृत्तिविषयाणां वैभिन्यादृषिशब्दस्यापि प्रवर्तकत्वरूपोऽर्थस्त्रिधा विभज्यते। तेन सृष्टिप्रवर्तका ऋषयः, वेदप्रवर्तका ऋषयः, गोत्रप्रवर्तकाश्च ऋषयस्त्रिविधा भवन्ति। तत्र सृष्टेरादिप्रवर्तका ऋषयः प्राणरूपा एव। नैतेषां प्रत्यक्षीकरणं लौकिकैरिन्द्रियैः सम्भवम्। ये पुनर्मानवमहर्षयस्तपोबलेनेमान् प्राणरूपमहर्षीन् साक्षात्कृत्वा तांस्तान् ऋषिपदार्थान् सर्वसंमुखमुपस्थापितवन्तस्तेऽपि तेषामृषितत्त्वानामुपदेष्टृत्वात्तैः प्राणतत्त्वैश्च सह घनिष्ठसम्बन्धकारणात्तन्नामभिरेव ख्यातिमभजन्त। अर्थादगस्त्य–कश्यप–भृगु–वसिष्ठादिनामभिः प्रसिद्धा विद्वांसो महर्षयस्तत्तत्प्राणतत्त्वप्रवर्तकत्वेनैव तदभिधेयं दधुः। इदं तेषां यशोनामैव केवलम्। प्रारम्भेऽवश्यमेव तेषां किमप्यन्यन्नामासीदेव, किन्तु पश्चात्तेषां यशोनाम्नैव लोकास्तानजानन्। साम्प्रतमपि महाकवि श्रीकण्ठं भवभूतिनाम्नैव सर्वे परिचिन्वन्ति। हिन्दीभाषायाः भूषणकवेरपि वास्तविकेन नाम्ना न केऽपि परिचिताः। एवममी महर्षयोऽपि यशोनाम्नैव सम्प्रति प्रसिद्धाः सन्ति। एत एव च वेदप्रवर्तका ऋषयः सन्ति। एतत्तुल्या एव च गोत्रप्रवर्तका विद्यन्ते। प्रारम्भे निर्दिष्टेषु ऋषितत्त्वेषु प्राणरूपा ऋषयस्तारारूपाश्चर्षयः सृष्टिप्रवर्तकाः। द्रष्टारो वक्तारश्च मनुष्यरूपा महर्षयो वेदप्रवर्तका इति विमर्शनिष्कर्षः।



वैदिक-विज्ञानम्

नास्त्यत्र स्वल्पतमोऽपि संशीतिलेशो यदयं भगवान् वेदस्सर्वेषामस्माकं महर्षिवंशप्रसूतानामार्याणां परमः प्रत्नोऽपि नितान्त नूत्नो महानक्षयोऽपूर्वः कोऽपि ज्ञानविज्ञाननिधिरिवास्मिन्नपि विश्वे सर्वविधानां विद्योतमानानां विद्यमानानां निखिलविद्यानाञ्चादिप्रभवः । अयं वेद एव जगति सर्वप्रथमं वाङ्मय रत्नम् । एतदुपज्ञमेवाखण्डेऽपि क्षोणीखण्डे विविधानामाविष्काराणां प्रचारकर्मेत्यत्रापि नास्ति पाश्चात्त्यविपश्चितामपि विप्रतिपत्तिः । वेदविषये 'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' इत्यस्ति सत्यानुस्मृतोऽस्माकं डिण्डिमघोष आर्याणाम् ।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' 'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ' इत्यादि सिद्धान्तं प्रतिपादयन्तो भगवन्तो मन्वादिमहर्षयोऽपि निखिलस्य वेदस्य धर्ममूलत्वमेव समुपन्यस्तवन्तः । यतोऽखिलधर्माचारविचाराणां वेदमूलत्वमेवापादयितुं चेष्टन्ते तत्तद्धर्मप्रवर्तका आचार्याः । धर्मशब्दोऽत्रमनोतरेषां पुरुषार्थानामुपलक्षणभूतः, वेदे सर्वेषां तेषां कार्त्स्न्येन समुपलब्धेः । सत्यं हि वेदाश्रयेणैव वर्णाश्रमधर्मभवनानि सुस्थिराणि, यदुपज्ञमेव जगति मानवानां मानुष्यरक्षणोपयिकं कर्मजातम्, येन वै सम्पूर्णो वाङ्मयप्रपञ्चो वैभवशाली कथ्यते, यस्मै च स्पृहयन्ति सहृदया वैदेशिकवर्या अपि । यतो विज्ञानप्रधानायामप्यस्यां शताब्द्यां वैदेशिकैरस्पृष्टानि सन्तीदृशानि बहूनि विज्ञानानि यानि वेदैकशरणैरेव

सुलभानि। नाद्यत्वेऽपि तानि वैज्ञानिकानमर्वाचां परिचयं गतानि। तेषां यदि भवेदाधुनिकीं नव्यां पद्धतिमवलम्ब्य सत्यानुसन्धानं निश्चप्रचं तर्हि विज्ञानजगति किमप्यपूर्वं नवमुद्‌घाटनं स्यात्, बहवोऽभिनवाः सिद्धान्ताः स्थिरीभवेयुः,अद्यत्वेऽपि बहूनामनिर्णीतानां विषयाणां विनिर्णयो भवेत्, बहवश्च भ्रान्तिपूर्णाः सिद्धान्ता हरिणप्लुतैर्निर्गताः स्युरिति नो विश्वासः। किमन्यद्, आधिदैविका आध्यात्मिकाश्चापि विषया वैदिकमेव पन्थामनुसृत्य शक्या विज्ञातुम्। प्रतिपादिता अप्यस्मद्‌गुरुचरणैः स्व०मधुसूदनमैथिलैः स्वरचितेषु वैदिकविज्ञानग्रन्थेषु ते ते विषया बहुत्र।

यद्यपि शिल्पकलाशास्त्राद्युपयोगिन्यां विद्यायां विज्ञानशब्दो मोक्षसम्बन्धिन्यां विद्यायाञ्च ज्ञानशब्दो रूढः। परन्तु मोक्षोपयोगिनी विद्याऽपि यदा अनुभवपर्यवसायितया प्रतिपद्यते तदा सापि विज्ञानशब्दव्यवहार्या जायते। अत एव हि गीताचार्येण कृष्णेनोक्तम्—'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' इति। शास्त्रेषु सैषा विद्या दर्शनशब्दव्यपदेश्या भवति। वेदेषु तूभयविधापि विद्या समुपलभ्यते। किन्तु तत्र सर्वविधं विज्ञानं तत्तन्मन्त्रेषु परमसूक्ष्मरूपेण सङ्केतमात्रतः प्राप्यते। ब्राह्मणग्रन्थ-गद्यमन्त्रेष्वपि यथास्थानं तदुपलब्धिर्भवति। मोक्षोपयोगिनी विद्या चोपनिषत्सु सविशेषमुपलभ्यते। पूर्वं हि वैदिके युगे सङ्केतमात्रेणैव तानि तानि विज्ञानानि परिज्ञायन्ते स्म जिज्ञासुभिः। न तदानीं तद्‌व्याख्यानमपेक्ष्यते स्म सर्वेषां तदानीन्तनानां महर्षिप्रवराणां विज्ञानपारगामित्वात्। अतः सूत्ररूपेणैव प्रतिपादितं तत्तद्विज्ञानं देवस्तुतिपरेषु याज्ञिकेषु मन्त्रेषु दृश्यते। ईदृग्विधा विज्ञानविषया अपि श्रीगुरुचरणैर्मैथिलमहाभागैर्बहुशो व्याख्याताः। तेषामेव हि कतिचन विज्ञानप्रसङ्गा उपस्थाप्यन्ते। तत्र प्रथमं केन्द्राकर्षणशक्तिविज्ञानं विलोकनीयम्—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(यजु. ३१।१९)

मन्त्रेऽत्र प्रजापतिशब्देनेश्वर. प्रजापतिदेवश्चेत्युभावप्यर्थौ प्रकटितौ भवतः। यत्रेश्वरशब्दार्थेनावतारवाद. सिध्यति तत्र प्रजापतिपरकेनार्थेन केन्द्राकर्षणशक्तिविज्ञानमपि व्यनक्ति।

मन्त्रस्यार्थस्तु सामान्यरूपेणायमेवास्ति यत् प्रजापतिदेव. समस्तवस्तूनामन्तर्गर्भे अर्थात् केन्द्रे विचरति। स स्वयम्भूर्वर्त्तते। पर सोऽनेकपदार्थान् भिन्न-भिन्नरूपेण प्रसूते। विद्वांसो वैज्ञानिका एव तस्य प्रजापतेर्योनिमुद्भवस्थानं द्रष्टुं शक्नुवन्ति, तत्रैव च सर्वे पदार्था अवस्थिता सन्तीति।

परमत्र कृते विचारे सिध्यति यत् सर्वप्रथमं केन्द्रं विनिश्चित्यैव सर्वेषां पदार्थानां निर्माणं संवर्धनञ्च जायते। याज्ञिकभाषाया केन्द्रशक्तिरूपप्रजापतिरेव यज्ञविद्याद्वारा विश्वस्य विस्तृतबिम्बस्वरूपं गृह्णाति। न कोऽपि साधारणव्यक्तिः प्रत्येकवस्तुनः केन्द्रं ज्ञातुं प्रभवति। गोलाकारपदार्थस्य केन्द्रज्ञानं तु सहसा कर्त्तुं शक्यते किन्तु चतुरस्र-त्रिकोणदीर्घ-तिर्यक्पदार्थानां केन्द्रज्ञानं महत् कठिनं वरीवर्त्ति। आधुनिकानां वैज्ञानिकानां निर्णयोऽस्ति यत् केन्द्रे विज्ञाते परममारवतोऽपि पदार्थस्य हस्तेन समुत्तोलनं जायते। प्रत्यक्षमपि पश्यामो यत् कमपि लम्बवंशं केन्द्रे गृहीत्वा कोऽपि निर्बलस्तमुत्थापयितुं प्रभवति। अत एव मन्त्रः कथयति प्रजापतिः प्रतिपदार्थं केन्द्रे तिष्ठति, केन्द्रत एव पदार्थानां निर्माणं भवति, तस्मिन्नेव च सर्वं तिष्ठति। परन्तु तस्योद्भवस्थानं न साधारणजना ज्ञातुं शक्नुवन्तीति। इदमस्ति केन्द्राकर्षणशक्तिविज्ञानम्।

अथ विप्रकृष्टावलोकनविज्ञानं विलोकनीयम्। विप्रकृष्टात् पर्वतादयः कथं लघुकाया विलोक्यन्ते? विषयेऽत्र साम्प्रतमपि वैज्ञानिकानां नैकमत्यम्। किन्तु भगवान् वेदः कथयति—

"मण्डलमेव ऋक्, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि। यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः सैषा त्रय्येव विद्या तपति।" (श.ब्रा.१०-५-२) इति। अस्मिन् प्रसङ्गे वैदिकविज्ञानेन वेदस्वरूपनिरूपणे साम्नि ऋचो विनियोगमाख्याय सर्वमेतन्निर्णीतम्। तथाहि— यद्यपि प्राक्तना विद्वांसो वस्तुनः प्रत्यक्षीकरणे चक्षुषोरेव बहिर्गमनं मन्यन्ते किन्तु शरीरस्य भोगसाधनत्वेन शरीराद् बहिश्चक्षुरादीन्द्रियाणां ज्ञानजनकत्वेनासम्भवान्नेदं युक्तियुक्तम्। अन्येषां कतिचन वैज्ञानिकानां कथनमस्ति यत् तत्तत्पदार्थस्पृशः प्रकाशरश्मय एवास्मच्चक्षुषोरागत्य तत्तत्पदार्थज्ञानं जनयन्ति। परन्त्विदमपि मतं नाभिमतं वैदिकविज्ञानानुयायिनां मनीषिणाम्।

वस्तुतः 'प्रजापतिश्चरति गर्भे'' इति पूर्वोक्तश्रुतेरनुसारं तत्तत्पदार्थकेन्द्रावस्थितास्तत्तत्स्वरूपसम्पादकाः प्राजापत्यप्राणा यावद्बलमविरतं प्रकाशरश्मिभिः सह दूरं प्रसरन्ति। तैरेव च चक्षुःसम्बद्धैः प्राणैस्तत्तत्पदार्थभानं भवतीत्यस्ति वैदिकश्रुतेरस्याः स्वारस्यम्। यावान् हि तत्तत्पदार्थानां प्रसारस्तावत्प्रदेशान्तर्भूता एव लोकास्तं तं पदार्थं द्रष्टुं शक्नुवन्ति। तत्प्रसारबहिर्भूतैर्लोकैर्न स पदार्थो द्रष्टुं शक्यते। प्रतिपदार्थञ्च प्राणानां न्यूनाधिकरूपेण प्रसरणं भवत्येव। अत एव सर्षप-राजिकादिकं वस्तुजातं निकटतमेनैव जनेन विलोक्यते, महीधर-मातङ्ग-भूरुहादयश्च दूरस्थितेनापि द्रष्टुं पार्यन्ते। उपर्युक्ताया:

शतपथ्याः श्रुतेरनुसारं प्रतिपदार्थमिह स्पृश्या मूर्त्तिर्महोक्थम्, महोक्थादुत्थिता उच्चः पृष्ठपर्यन्तं परितः सञ्चरन्त्यः उत्तरोत्तरं ह्रस्वीभवन्त्यः स्पर्शानुभवशून्या दृश्या मूर्त्तय उक्थानि, परित उक्थमूर्त्तीनां वितानं साम । वितानमेव हि गानम् । "गीतिषु सामाख्या" इति चापि श्रुतिः । कृष्णयजुर्वेदेऽपि वेदस्वरूप-प्रदर्शकोऽयं मन्त्रस्तदेव विज्ञानं कथयति—

> ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः
> सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्
> सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
> (तै.ब्रा. ३-१२-९१) इति

एवं हि सूक्ष्मरूपेण दूरार्थविज्ञानस्य सङ्केतो वेदेषूपलभ्यते ।

अथ सौरविज्ञानस्याप्येकमुदाहरणं हृदि करणीयम्—

ऋग्वेदसंहितायाः प्रथमाष्टके यजुर्वेदसंहितायाश्च त्रयस्त्रिंशत्तमेऽध्याये सुप्रसिद्धोऽयं सूर्याभिधानमन्त्रः पठ्यते—

> उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
> दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ (ऋ. ८ । य. ३३)

पाश्चात्यविपश्चितां डिग्टिमघोषोऽयं यदस्माभिरेवेदं सौरविज्ञानमाविष्कृतं यथावत्सूर्यबिम्बमिदमस्मत्क्षितिजतो नीचैरेवावतिष्ठते, न च चक्षुःसम्पर्कं लभते तावदेव सूर्यरश्मयो भूमितटादुपरिभागे वायुमण्डले पतिता वक्रीभूयास्मन्नेत्राणि संप्रविष्टाः स्वसंमुखभागे भगवन्तं भानुमन्तं प्रदर्शयन्ति । येन भानोर्वास्तविकादुदयात् पूर्वमेव भानूदयो लोकैरभिमन्यते—इति ।

किन्तु तदिदं विज्ञान वैदिकैर्महर्षिभिः सूर्यस्तवनमिषात् मूत्ररूपेण पूर्वमेव प्रकटीकृतम् ।

उपरि लिखितेऽत्र मन्त्रे स्पष्टमुक्तं यज्जातवेदस देवं सूर्यं केतवः=रश्मयः,विश्वाय दृशे=विश्वस्मै लोकाय दर्शयितुं, उद्वहन्ति=ऊर्ध्वं प्रापयन्ति—इति । सत्य हि साक्षात्कृतधर्माणो महर्षय आर्षेण दिव्यचक्षुपा स्पष्टं पश्यन्ति स्म यत् सूर्यो यदा क्षितिजं नारोहति, क्षितिजादधस्तादेव भवति तदा भूवायोरुपरितले स्तरे सूर्यरश्मयः पतन्ति, तरलपदार्थे पतनाच्च ते रश्मयस्ततः परिस्खलनाद्वक्रीभूयास्मत्समुखे सूर्यं दर्शयन्तीति । रश्मीनां वक्रीभावस्त्वस्माभिरपि सर्वैर्जलादौ स्पष्टं विलोक्यते नित्यम्। यथा तडागे सरला स्थापिता यष्टिका वक्रीभूता प्रतीयते । यावदियं घटना घटते तावदेव सूर्यबिम्बमण्डल रक्तवर्णं दृश्यते । तदनन्तर क्षितिजादधोगत सूर्यं रश्मय ऊर्ध्वं प्रापयन्त्येव ।

एवमेव पाश्चात्याः पृथिव्याः स्वाक्षोपरि प्रात्यहिकभ्रमणसिद्धान्तेऽपि स्वस्यैवानुसन्धानं वितन्वन्ति । किन्त्वस्मिन्नपि विषये वेदेषु पौरस्त्यैरेवाशेषशेमुषीशालिभिर्महर्षिभिः सोऽयं सिद्धान्तः पूर्वमेव प्रतिपादितो बभूव । यथा—

> आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
> पितरञ्च प्रयंत्स्वः ॥(यजुः ३।८) इति ।

मन्त्रेऽत्र पृश्निशब्देन पृथ्वी ग्राह्या भवति । यतो महाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे स्पष्टमुक्तं—

> पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं यथा ।
> ममैतानि सदा गर्भे पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥
> (अ० ३४१, श्लो. ४५१)

अत्र भगवता कृष्णेन पृश्निरन्नमित्युक्तम् । छान्दोग्योपनिषदि च तेजोऽबन्नाना सृष्ट्युपक्रमप्रसङ्गेऽन्नशब्देन पृथ्वी निर्दिष्टा। 'इयं वं पृश्निः' (मैत्रा स २. १. ८. २. ४., तै. सं. १. ४. १५) इत्युल्लिख्य मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीयसंहिता इत्युभेऽपि वेदसंहिते पृथ्वीं पृश्निशब्देन निर्दिशतः । शातपथी श्रुतिरपि 'इयं वै वशा पृश्नि.'(१.८.३.१५) इत्यभिदधती तथैव व्यादिशति । अतोऽत्रापि याजुष्यामस्यामृचि पृश्निर्नाम समेषां भूतानां प्राणरक्षकत्वेनान्नभूता गौः पृथ्वी एव गृहीता भवति । तदनुसारञ्च मन्त्रस्यायमर्थो भवति—गौ. पृश्निः=पृथ्वी, पुरः=पूर्वत एव, मातरं=मानदण्डभूत स्वमक्षदण्ड, असदत्=अविरतं, अक्रमीत्=पर्यभ्रमत् । च=पुनः, यं पितर=सूर्यं, स्वः प्रयन्=द्युलोकमाक्रामती सती, आ=परित', अक्रमीत्=प्रदक्षिणं पुर एव आवर्त्ततेस्मेति । अनया रीत्या मन्त्रेणानेन पृथिव्याः स्वाक्षोपरि प्रात्यहिकं भ्रमणं सूर्यं परितश्च वार्षिकं प्रदक्षिणमावर्त्तनमिति द्विविधाऽपि गतिः स्पष्टं प्रतिपादिता भवति । नापि च केवलमस्मिन्नेव मन्त्रे पृथिव्याः परिभ्रमणं प्राप्यते अपितु "यत इन्द्रमवर्धयत्, स भूमिं व्यवर्तयत् । चक्राण ओपशं दिवि" (ऋ. सं. ६-१-१४) इत्यादिष्वपि शतशतस्या मन्त्रेषु सूर्यकृतं पृथिव्यादिधारणं समुपलभ्यते ।

अथ मनोविज्ञानसम्बन्धेऽपि वेदेषु सङ्केताः सङ्कीर्त्यन्ते । यथा शतपथब्राह्मणे—"मनो वै देवा मनुष्यस्य जानन्तीति । मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातम् वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः, तस्मादेतदृषिणाभ्यनुक्तम्"—मनसा सङ्कल्पयति यत् तद्वातमभिगच्छति । वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः" , शत० ब्रा० ६-५-५) एवमिह ब्राह्मणभागे तत्र प्रमाणीकृतेऽथर्वमन्त्रे (१२-४-१-५) चापि मनोविज्ञानं सङ्केतरूपेण प्राप्यते । मनसा

सङ्कल्पितं हि कथ वातमभिगच्छतीत्यादौ साम्प्रतिकैरनुसन्धानं करणीयम् ।

अथ च साम्प्रतिकेभ्यो नभोयानादिकेभ्योऽपि विलक्षणान्यनेकविधानि यानानि वैदिके विज्ञानबहुले काले लभ्यन्तेस्म । यद्यपि समुपलब्धेषु वैदिकमन्त्रेषु नामीषां यानादीनां रचनाप्रचारः सुस्पष्टं प्राप्यते किन्तु तेषां सङ्केतान्तु मन्त्रेषु तत्र तत्रावश्यमुपलभामहे वयम् । यथा जलस्थलनभोगामिनो विमानस्य वर्णनं विलोक्यते दाशतय्याम्—

"तुग्रोह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः ।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥
(ऋ० १-८-८)

• कश्चित् तुग्रो नाम राजर्षिः शत्रु विजेतु स्वतनयं भुज्युं सैन्यैः समेतं नौकाद्वारा प्रजिघाय । तमेतमश्विनौ,आत्मन्वतीभिः =यन्त्रैः, सचेतनाभिः, अतएवापोदकाभिः=जलसम्पर्कशून्याभिर्नौभिरूहतुः । एतेन सिध्यति यत्तदानीं वैज्ञानिकतल्लजैर्वैदिकैः सम्पादितानि नानायन्त्रैः संयुक्तानि विमानानि जले स्थले व्योमतले च समानरूपेण प्रचलन्ति स्म, सर्वत्र च तेषामप्रतिहतगतिरासीत् । एवमेव—

"अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः ।
महत् तद्वो देवस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥"
(ऋ० ४-३६-१)

अत्र हि वामदेवेन महर्षिणा दाशतय्यामृभुनिर्मितस्य दिव्यविमानस्य वर्णनमक्रियत । यत्र यानस्य स्वरूपमपि ज्ञातं भवतीति विलोकनीयम् ।

"ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सयुजा ये अश्वाः।
ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवःक्षमयन्तो न मित्रम् ॥"
(ऋ० ४।३३।१०)

अस्मिन् मन्त्रे सुरसार्वभौमाय महेन्द्राय काष्ठनिर्मितस्य हयद्वयात्मकस्य विमानस्य सङ्केतो लभ्यते। एवं बहुषु स्थलेषु विभिन्नप्रकाराणां विभिन्नैर्वैज्ञानिकैश्च सम्पादितानां विमानानां प्राप्तिसङ्केतः सङ्कीर्त्यते वेदेषु।

अथ च वेदशास्त्रे वृष्टिविज्ञानमपि सूक्ष्मरूपेण बहुश उपलभ्यते। श्रीमता यास्कविपश्चितापि स्थाने स्थाने सङ्केतितं वृष्टिविज्ञानम्।भूतलात् सूर्यरश्मिजालैर्जलाकर्षणं ततो वर्षणञ्चैवं सङ्केतितमस्ति तत्र वेदेषु—*'सूर्य इ ज्योतिषाऽऽपस्ततान'*(तै०सं०१।५।११) अर्थात् सूर्यो ज्योतिषा=रश्मिजालेन भूरसमादाय वर्षतो जलानि विस्तारयति। वृष्टिः कथं भवति ? आपः कुत्र निविशन्ते? इत्यादिकं विज्ञानं शुक्लयजुः संहितायां साङ्केतिकविषयं प्राप्यत एवम्—

"अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुम्न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥"
(यजु० ७।१६

अर्थादयमिन्द्रः पृश्निगर्भा आपः=आदित्यस्य गर्भभूतानि जलानि चोदयत्=भूमौ पातयतीत्यर्थः कुत्रायं वर्षतीत्यत्रोच्यते-रजसो विमाने=धूलेर्विशेषेण निर्माणं यस्मिन् शुष्के भूप्रदेशे वर्षति। अपां सूर्यगर्भीभावश्च कथं सम्पद्यते ? अत्र सङ्केतो लभ्यते यद् विप्राः सूर्यस्य अपां सङ्गमे निमित्तभूते सति इममिन्द्रं शिशुमिव लालयन्तो मतिभिः रिहन्ति=यजन्तीति। विज्ञानमिदं समर्थयमानः शतपथमन्त्रो ब्रवीति—"भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति,

दिवं जिन्वन्त्यग्नयः" इति। इमा आपः कुत्र वसन्तीत्यत्रापि श्रुतिः प्रश्नोत्तराभ्यां प्रतिपादयति—"क्वेमा आपो निविशन्ते, यदितो यान्ति सम्प्रति" अस्योत्तरम्—"आपः सूर्ये समाहिताः, अभ्राण्यपः प्रपद्यन्ते" (तै.भा.सायण १।४।६) इति। तैत्तिरीयसंहितायां वृषालम्भनकर्मणि स्पष्टमुट्टङ्कितं विद्यते यदादित्यः सलिलात्मनश्चन्द्रस्य द्रप्सं रश्मिभिगृह्णाति। तच्च द्रप्सरूपं जलं रश्मीनामेषां सम्बन्धी बृहन्नद्रिर्मेघो जायते। मन्त्रपाठस्त्वेवं वरीवर्त्ति (तै०सं०२।३।६)

"देवानामेष उपनाह आसीदपां गर्भ ओषधीषु न्यक्तः।
सोमस्य द्रप्समवृणीत पूषा बृहन्नद्रिरभवत् तदेषाम्॥"

किमन्यत्कृष्णयजुषि वृष्टिविज्ञानविषये स्पष्टमेवं वर्त्तते—"अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति, यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्त्तते, अथ वर्षति" (तै.सं.२।४।१०) इति। मन्त्रेऽत्र साम्प्रतिकानामपि पाश्चात्यानां निखिलं वृष्टिविज्ञानं समाहितं विद्यते।

जलद्रव्यसम्बन्धेऽपि पाश्चात्यानां वैज्ञानिकानां समुद्घोषो वरीवर्त्ति यत्, जलं द्वाभ्यां तत्त्वाभ्यां सम्पद्यते। परं सोऽयं सिद्धान्तो वैदिकैर्वैज्ञानिकैर्वेदमन्त्रेषु बहोः कालात् पूर्वमेव सूत्ररूपेण सङ्केतितः। यथाहि—"अग्नेर्गर्भो अपामसि" (यजु.१२।३७) "वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु" (ऋ. १०।४९।४)।

"अप्स्वग्ने सधिष्ठव०" (यजु. १२।३६) "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्०" (ऋ. १।२३।२०) इत्यादिभिर्वेदसंहितावाक्यैरग्नेर्जले वासः सिध्यति, सोमपदार्थेन अग्नेर्भागेन च जलद्रव्यं सम्पद्यते—इत्यपि ज्ञातं भवति।

वस्तुतो वैदिकविज्ञानभाषायां धर्त्रापरपर्याय-तरलाग्नि-प्रवेशादापो द्रवा जायन्ते, घ्रुवाग्निसम्बन्धात्ता एव घनतां यान्ति । अप्सु या द्रवता या च घनता सा हि अग्निसम्बन्धा-देवोत्पद्यते । भगवता कणादेनापि तदेतद् वैशेषिकदर्शने कथितम् —"अपां सङ्घातो विलयनञ्च तेजःसंयोगात्" इति । तत्र योऽयम-ग्निरप्सु प्रविष्टः सन् तत्र जले द्रवभावं विधत्ते सोऽग्निस्तत्रात्मन स्तापधर्मं विहाय जलस्यात्मा भवति, तद्विनाशे जलस्वरूपनाशः, तत्सत्तायामेव जलस्थिति । पुनश्च वाह्याग्निसंयोगाज्जलमुष्णं जायते परं सोऽप्यमूष्मा अग्नेरागन्तुको धर्मः । यद्यस्याऽऽगन्तुकधर्म-भूतस्य वाह्याग्नेरप्सु आत्यन्तिकः सम्बन्धो जायते तदा तु जल-परमाणवो विशकलिता भूत्वा वाष्परूपे परिणताः सन्त उत्क्रान्ता भवन्तीति स्पष्टं दृश्यत एव ।

हन्त, नव्यसभ्यताभाजोऽप पाश्चात्याः साम्प्रतमपि सृष्टेः प्राग्रचनायां भ्रान्ता न कथमपि निश्चितबिन्दुंमस्पृशन्, तत्र भगवान् याज्ञवल्क्यः शतपथब्राह्मणे सृष्टेः प्राक्कालिकं मौलिक तत्त्वमेवं प्रादिशति—"असद्वा इदमग्र आसीत्, तदाहुः किं तदसदा-सीत् ? ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासन्निति । तदाहुः के ते ऋषयः इति ? प्राणा वा ऋषयः । ये पुराऽस्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषंस्तस्मादृषयः" (श. ब्रा. ६।१।१।१) इति ।

अस्यायमर्थः, इदमग्रे—इदमिति निर्देशेन व्यवह्रियमा-णायाः सृष्टेः प्राग् असदात्मकः सर्वजगत्प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण भूतः कश्चित् तत्त्वविशेष आसीत्, स च प्राणस्वरूपः । य[illegible] वस्तुनि प्राणो वसति तद् वस्तु 'सत्'-शब्देनोच्यते । सामान्य सामान्याभावः' इति न्यायानुसारं मनुष्यत्वे यथा मनु[illegible]त्वा-भावः, पटत्वे यथा घटत्वाभावस्तथैव सत्स्वरूपसम्पादके प्राणेऽपि

ाणाभावः। अत एव तदेतत् प्राणतत्त्वम् "असत्" इत्याचक्षते। ्वं च विद्वद्देवानां परोक्षप्रियता। 'परोक्षप्रिया ह वै देवाः' ति श्रुतिवाक्य प्रमाणम्।

तदिदं महाब्रह्माण्डे असदात्मकं प्रथमं प्राणमण्डलं नाम। देव स्वयम्भूमण्डलमिति वदन्ति वैदिकाः। एतेनैव प्राणात्मकेन गन्निर्मात्रा स्वयम्भुवा सर्वप्रथमं जलसृष्टिरक्रियत। विजातीानन्तप्राणेषु केन्द्रे घर्षणादवुत्पत्तेश्च घर्षणाधीनत्वादेतेभ्यः ऋषिप्राणेभ्यः आपोधाराः सर्वतः प्रस्रवन्ति। स एष ऋषिप्राणः अन्यप्राणादिवन्न कुतश्चिदुत्पद्यते, अपि तु स्वयमेवोत्पद्यते। अतः स्वयम्भवतीति व्युत्पत्त्या एष स्वयम्भूशब्देनाख्यायते। इत्थं पृष्टेः प्राक् ऋषिप्राणस्थितिरस्माकं वैदिकैर्वैज्ञानिकैः पूर्वमेव निर्दिष्टेति।

ग्रहोपरागविज्ञानसङ्केतोऽपि प्राप्यते श्रुतौ। पूर्वं हि सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणकाले किमपि तद्रहस्यं ज्ञातुं तत्कालिकोऽत्रिनामा वैज्ञानिको बभूव। यो हि यन्त्रविशेषं निर्माय तदनुसन्धानं विदधाति स्म। येन ज्ञायते यत्कथमनयोर्ग्रहणं जायते। यथाहि—

अभिजितं नाम ब्रह्माणं परितः सूर्योऽयं परिक्रामति। तस्य ब्रह्मणो रश्मिगताः सर्वे प्राणाः ऋषयः उच्यन्ते "प्राणा वा ऋषयः" (श. ब्रा. ७।२।३।१) इति वाक्यप्रामाण्यात्। चन्द्रमसि स्वतः कृष्णवर्णे प्रतिमूर्च्छितैः सूर्यकिरणैः समुत्पन्नायां ज्योत्स्नायां स्थिताः प्राणा मध्यमाः पितर उच्यन्ते सूर्यरश्मिगताः प्रकाशमयाः सर्वे प्राणाश्च देवा अभिधीयन्ते किन्तु चन्द्रमसि पृथिव्यां वा सूर्यप्रतिदिग्मार्गे सूर्यरश्मिप्रतिबन्धात्तमोमये सञ्चरन्तः

प्राणा असुराः स्मर्यन्ते—इत्यस्ति श्रुतिसिद्धा वैदिकी परिभाषा। या ह्यस्मद्गुरुचरणैः स्व० श्रीमधुसूदनमैथिलैरपि स्वग्रन्थेषु बहुत्र प्रतिपादिता।

तत्रास्य चन्द्रस्य पृथिव्याश्चैषा तमोभागव्याप्ता छायामयी भूमाऽपि सर्वासुरप्राणसम्भृतत्वादसुरशब्देनोच्यते। तस्य छायामयस्यासुरस्य तमो राहुः स्वर्भानुश्चेत्येताः संज्ञा जायन्ते। अन्धकारमयत्वात्तमः, सूर्यांशुराहित्येन क्लृप्तमूर्तित्वाद्राहुः, स्वः=सूर्यमण्डलं, सूर्यमण्डलोपलक्षिते प्रतिबिम्बमाने भानुः=सूर्योपलक्षितप्रदेशव्याप्तियोग्यः प्रकाशो नियमेन यस्यास्ति स स्वर्भानुः। एष च राहुरुभयपार्श्वगतरविकिरणयोः कर्त्रीरूपयोः (कर्तरिकारूपयोः) सम्पातेन छिन्नशिरा दृश्यते। द्विविधोऽयं राहुः पार्थिवश्चान्द्रश्च भवति। तत्र पार्थिवः सैंहिकेयोऽप्युच्यते। पृथिव्याः सिंहिकारूपेण निरूपितत्वात्। अनयोर्द्वयोः राह्वोः पार्थिवेन राहुणा चन्द्रग्रहणं भवति, चान्द्रेण च सूर्यग्रहणं भवति। तदेवात्रानया ऋचा निरूप्यते—

> यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
> अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥(ऋ. ५।४०।५)

अस्यायमर्थः—हे सूर्य! आसुरः=असुरनिकायस्वरूपोऽयं स्वर्भानुर्यदा त्वां तमसा=चन्द्राधस्तनकृष्णच्छायया अविध्यत्=आवृणोत्, तदा भुवनानि=सर्वे लोकाः, अदीधयुः=अज्ञानेन व्यामोहिता बभूवुः। यथा गन्तव्यं क्षेत्रमजानाना जनाः कुत्र गच्छाम इत्येवं व्याकुला भवन्ति तथा कुत्र सूर्योऽगात्, किमिदमभूत्, कथमयमकाण्डेऽन्धकारोऽभवदित्येवं व्यामोहमलभन्त। अन्यश्चाप्ययं मन्त्रस्तत्र (ऋ. ५।४०।८) प्राप्यते—

**ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् ।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत् ।।**

अनेन मन्त्रेणैवं प्रतीयते यत् पूर्वं महर्षेरत्रेर्वैज्ञानिकस्य वंशे ग्रहनक्षत्रादिज्योतिर्विद्यापरीक्षणं विशिष्य प्रचलितमासीत् । सम्भवतः सर्वग्रासे सूर्यग्रहणे सञ्जाते तत्कारणनिर्धारणाय तदानीन्तनैर्विद्वद्भिर्बहुभिः प्रयतितं परन्तु सर्वप्रथमं तैष्वत्रिवंश्यैरेव वैज्ञानिकैर्मुनिभिर्याथातथ्येन तत्कारणं दृष्टम् । ग्रहणकाले सूर्यं द्रष्टुं कश्चिदपूर्वो यन्त्रविशेषोऽप्यत्रिमहर्षिभिर्निर्मापितोऽभूत् । मन्त्रोक्तानि ग्राव-कीर-नमांसीतियन्त्रस्याङ्गान्येवासन्। उपरागकाले जाते सोऽत्रिर्ब्रह्मा ग्राव्णो युञ्जन् कीरिणा देवानाराधयन् नमसा च प्रसाधयन् सूर्यस्य दिवि=सूर्योपलक्षिताकाशभागे स्वं चक्षुराधात् । तेनाय स्वर्भानोर्मायाः परान् मोहयन्तीः प्रक्रियाः अपायुक्षत्=न्यवारयदिति । अत एव पुनर्वेदे (ऋ. ५।४०।६) मन्त्रोऽयं पठ्यते—

"यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्न ह्यन्ये अशक्नुवन् ।।"

अर्थात् पुरायुगे सूर्योपरागत्व-विविदिषया कृतप्रयत्नेषु विद्वत्सु यं यं सूर्यमासुरः स्वर्भानुस्तमसा अविध्यत्=यदा यदा सूर्योपरागोऽभवत्तदा तदा तमत्रय एव महर्षयो वैज्ञानिका अन्वविन्दन्, नान्ये विद्वांसो यथावज्ज्ञातुं तमशक्नुवन् ।

एवं हि सूर्येऽकस्मात् खग्रासेन ग्रस्ते सर्वतोऽन्धकारे च समाच्छन्ने भयभीतेषु देवेषु अत्रिणा देवानां भीतिदूरीकृता यदिदं तु चन्द्रकृतं सूर्यस्यावरणं वर्त्तते नान्यत् किमपि कारणमिति परितुष्टैर्देवैर्महर्षयेऽत्रये खगोलवैज्ञानिकाय वरोऽपि दत्त इति गोपथ-

ब्राह्मणे श्रूयते—'आदित्यं हि तमो जग्राह, तदत्रिरपनुनोद। तदत्रिरन्वपश्यत्, तं होवाच, वरं वृणीष्वेति'……(गो.ब्रा.पूर्वभागे २।१७)

एतेन सिध्यति यत्साम्प्रतिकं सूर्यचन्द्रोपरागविज्ञानं न पाश्चात्त्यैराविष्कृतमपि तु पूर्वाचार्यैरस्माकं वैज्ञानिकैरत्रिमहर्षिभिरेव प्रकटीकृतमभूदिति ।

किमन्यद् वेदेषु प्रसूतिविज्ञानसङ्केतोऽपि प्राप्यते । ऐतरेयब्राह्मणस्य द्वाविंशाध्याय-त्रिंशाध्यायोक्तप्रकरणानुसारमध्यात्मं प्राधान्येन चत्वारः सहचराः प्राणा उत्पद्यन्ते—नाभानेदिष्ठो बालखिल्या वृषाकपिः एवयामरुच्चेति । स्त्रीयोनौ तावत् पुरुषरेतो येन सिच्यते स रेतोमयो नाभानेदिष्ठस्तद्रेतो बालखिल्याभिः प्राणैर्विक्रियते । अर्थाच्छिरोग्रीवाद्यङ्गप्रत्यङ्गनिर्माणाय विभक्तं क्रियते । अथ वृषाकपिरात्मानं कल्पयति । अर्थाल्लोमानि त्वक् मांसमस्थि मज्जा चेति पञ्चधा विहितं तत्करोति । ततोऽस्मिन्नेवयामरुत् काठिन्यं सम्पाद्य प्रतिष्ठामादधाति । यावत् प्रतिष्ठां न लभते तावत्पराश्रयेणैव तिष्ठतीति गर्भाशयं न त्यजति । अथ प्रतिष्ठां प्राप्यायमात्मनाऽऽत्मानं धारयितुं समर्थो भूत्वा गर्भाशयाद् बहिर्भवितुं प्रयतते । अत एव तत्रैव ब्राह्मणे इदमपि प्राप्यते—'एवयामरुतेतत् करोति । तेनेदं सर्वमेतदंतमिति यदिदं किञ्चेति" । एवं वैदिकविज्ञानेन रेतः प्राणा आत्मा प्रतिष्ठा चेति चत्वारोऽर्थाः शरीरारम्भाय सिद्धाः भवन्तीति ।

अस्माकं वेदग्रन्थेषु न केवलं भौतिकमेव विज्ञानं लभ्यते, अपितु तत्राधिदैविकमाध्यात्मिकञ्चापि विज्ञानं प्रचुरं प्राप्यते । पाश्चात्त्यजगति विज्ञानस्य मध्याह्नेऽद्य केवलमाधिभौतिकविज्ञानमेव समुन्नतं दृश्यते । तत्राप्यद्यत्वेऽनेके सिद्धान्ता दोलाधिरूढाः

इव विलोक्यन्ते, यतो भूयो भूयस्तत्र परिवर्त्तनं जायते। बहुषु च विषयेषु तेऽद्यापि निश्चितं सिद्धान्तं न स्थिरतां लम्भयितुमशक्नुवन्। आधिदैविकाऽध्यात्मिकविज्ञानयोस्तु वार्ता तत्र यत्र कुत्रैव श्रूयते। वेदेषु बहुत्र तथाविधाधिभौतिकविज्ञानानामपि तादृशः सङ्केतः प्राप्यते येषां चिन्तनमपि साम्प्रतिकानां कृते दुर्लभम्। तदाहरणरूपेऽपर एको विज्ञानप्रसङ्गो विलोकनीयः।

प्रत्यक्षज्ञानमात्रावलम्बितमिदमाधुनिकविज्ञानं केवलमद्यावधि पृथ्वीं चन्द्रमसं सूर्यञ्चैव सम्यग् ज्ञातुं प्राभवत्। एतेषामेव विस्तृतनिरूपणे तद्धि साफल्यं मनुते आत्मनः। किन्त्वस्माकं प्राक्तनं वैदिक विज्ञानमितोऽप्यग्रेऽनुसन्धाय निश्चेचयाञ्चकार यदेतत्त्रितयातिरिक्तं मण्डलद्वयमन्यदपि वर्त्तते— परमेष्ठिमण्डलं स्वयम्भूमण्डलञ्चेति।

यथास्माकमिदं भूमण्डलं स्वसम्बद्धेन चन्द्रमसा सह सूर्यमण्डलस्याधिकारे वर्त्तते सूर्यप्रभावादेव चास्मिन् सर्वविधं परिवर्त्तनादिकं जायते तथैवेदृशा बहवः सूर्या यस्याधिकारे वर्त्तन्ते तत्परमेष्ठिमण्डलं विद्यते,यत्र हि ऋतशब्दाभिधेयः सोमपदार्थः पूर्णमात्रायां प्राप्यते, तेनैव च तन्मण्डलं सोममण्डलनाम्नाऽपि कथ्यते। प्रतिक्षणमपरिमाणं प्रकाशमौष्ण्यञ्च प्रक्षिपतः सूर्यस्य क्षतिपूर्त्ति तदेव सोमण्डलं चरीकरीति। इदं मण्डलमेवोद्दिश्य तैत्तिरीयश्रुतौ (१।५।५) पठ्यते—

ऋतमेव परमेष्ठि, ऋतं नात्येति कश्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता॥ इति

आदित्यदेवोऽयं प्रतिक्षणं कियन्तं प्रकाशं कियदौष्ण्यञ्च प्रक्षिपतीति पाश्चात्यविज्ञानेन विज्ञातं किन्तु यया अविरतं

प्रकाशं विस्तारयतो दीपस्य कृते तैलस्य, प्रतिपलमौष्ण्यञ्च प्रयच्छतो वह्नेः कृते काष्ठस्य आवश्यकता भवति, यथा वा विद्युत्प्रकाशाय विद्युच्छक्तेरावश्यकता जायते तथैव सूर्योऽयं महादीपो विद्युद्घनः प्रकाशं विस्तारयितुमौष्ण्यञ्च परिकल्पयितुं, कुतस्तैलं विद्युच्छक्तिं वा प्रतिक्षणं गृह्णातीति सम्यग् ज्ञातुं कृतेऽपि प्रयत्नशते नाद्यत्वे पाश्चात्त्यविज्ञानेन साफल्यं लब्धं किन्त्वस्माकं वैदिकं विज्ञानं स्पष्टमुद्घोषयति सूत्ररूपेण—"सोमेन आदित्या बलिनः" (अथर्व १४।१।२) इति। अर्थादमुष्य परमेष्ठिमण्डलस्य सोमद्रव्यमविरत्तं गृह्णन्नेवायं सूर्य आत्मनि बलमादधातीति।

एवमेवेदं सोममण्डलापरनामधेयं परमेष्ठिमण्डलमप्यन्तिमस्य स्वम्भूमण्डलस्याधिकारे तिष्ठति। इदञ्चान्तिमं मण्डलं नास्त्यन्यस्य कस्यचनाधिकारे। अत इदं स्वयम्भूशब्देन व्यपदिश्यते। इदमेव ब्रह्मरूपायाः पराशक्तेरधिष्ठानमस्ति।

एकस्य सूर्यस्यायुषि समाप्ते तस्य ब्रह्मण एकं दिनं समाप्तं मन्यते। सूर्यस्य समाप्तौ चास्मत्त्रैलोक्यं विलीनतां याति। किन्तु परमेष्ठिमण्डलं स्वयम्भूमण्डलञ्चेत्युभयं यथावत्तिष्ठति। अयमेव पौराणिको नैमित्तिकः प्रलयः। ब्रह्मणः शतायुषि पूर्णे महाप्रलयो जायते।

अत्र पञ्चवलशाल्पात्मके विश्वरूपे इदमस्त्यध्यात्मविज्ञानम्। यथाहि—'पाङ्क्तो वै यज्ञः'—इतिसिद्धान्ताद्यज्ञमूर्त्तिरीश्वरः पञ्चकलः। तत्र प्रथमा पञ्चकला प्राणमयी ऋषितत्त्वप्रवर्त्तिका, द्वितीया विष्णुकला आपोमयी पितृतत्त्वप्रवर्त्तिका, तृतीया इन्द्रकला वाङ्मयी देवतत्त्वप्रवर्त्तिका, चतुर्थी सोमकला अन्नमयी गन्धर्वतत्त्वप्रवर्त्तिका, पञ्चमी अग्निकला

अन्नादमयी भूततत्त्वप्रवर्त्तिकेति पञ्च कला ईश्वरस्य। प्रथमं ब्रह्ममण्डलं स्वयम्भूः, द्वितीयं विष्णुमण्डलं परमेष्ठी, तृतीयमिन्द्रमण्डलं चन्द्रमाः, पञ्चममग्निमण्डलं पृथिवी। सर्वबलविशिष्टमूर्त्तिः परात्परः। मायाबलोदयवशात्परात्परस्य ससीमः प्रदेशो मायी ईश्वरः। स एष षोडशीरूपेणामृतात्मा, प्रकृत्यवच्छेदेन ब्रह्मात्मा, तथैवायं विकृत्यवच्छेदेन च शुक्रात्मेति कृत्वा अमृत, ब्रह्म, शुक्रमिति त्रेधा सम्पद्यते। स एष सहस्रवल्शः प्रजापतिर्भवति। प्रत्येकवल्शायां पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च पर्वाणि। पञ्चपर्वात्मिका एका वल्शा एकं विश्वम्। तत्रैवास्माकं स्थितिरिति कृत्वा शास्त्रेष्वेकस्या एव वल्शाया निरूपणं लभ्यते।

अस्यां हि वल्शायां दहरोत्तरः सम्बन्धो भवति। स्वयम्भूमण्डले परमेष्ठी, पारमेष्ठ्यमण्डले सूर्यः, सूर्यमण्डले पृथिवी, पृथिव्याञ्च चन्द्रमाः। चन्द्रमाः पृथिवीमभि परिक्रमणं विदधाति, पृथ्वी सूर्यमभि, सूर्यः परमेष्ठिनमभि, परमेष्ठी च स्वयम्भूमण्डलस्य परिक्रमां विदधाति। स्वयम्भूः प्रजापतिस्तु स्थिरः परोरजाः सत्यमूर्त्तिः। अन्ये च पञ्चानामेषां तत्तदुपग्रहास्तत्तन्मण्डलेषु परितो नित्यं परिक्रमणमाचरन्तोऽवतिष्ठन्ते।

अत्र पञ्चसु लोकेषु सप्त लोकाः प्रतिपन्ना जायन्ते—अस्माकमाधारभूमिरयं लोको भूलोकः, सूर्यः स्वर्लोकः,अन्तरालप्रदेशोऽन्तरिक्षं भुवर्लोकः, परमेष्ठी जनलोकः, परमेष्ठिसूर्ययोरन्तरालप्रदेशो महर्लोकः, स्वयम्भूः सत्यलोकः, परमेष्ठि-स्वयम्भ्वोरन्तरालप्रदेशश्च तपोलोकः। इम एव भूः भुवः, स्वः महः, जनः, सत्यं तपश्चेति सप्त लोका भवन्ति। स एष सप्तवितस्तिकायात्मकः पञ्चपुण्डरीकावच्छिन्नः पञ्चदेवमूर्त्तिः सर्वेषां

प्रवर्त्तको वृत्तौजा ईश्वरः सर्वदा सर्वैः सर्वथा उपासितव्यः, विजिज्ञासितव्यः अनुध्यातव्यश्चेति दाम्। एतत्सर्वं परमेश्वरोपास्तिविज्ञानं हृदये कृत्वा इमे वेदमन्त्राः श्रूयन्ते—

अन्तरस्मिन्निमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्।
ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठं तेन कोऽर्हति स्पर्धितुम्॥
(अथर्व० १०।७।८)

तिस्रो भूमीर्धारयस्त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रताविदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महिवो महत्त्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु॥
(ऋ० २।२७।८)

त्रयो वा इमे लोकाः अद्धा वैतद्यदिमे लोकाः, अनद्धा वैतद् यदिमान् लोकानतिचतुर्थम्॥ (श. ब्रा.)

यत्राक्षरावक्षरमेति युक्तं युजो युक्ता अभियत् संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति॥
(ऐ. आ. २।३।८)इत्याद्याः।

एवं हि वैदिकविज्ञानं पूर्वं सर्वविधं विजृम्भितमवर्त्तिष्ट, परं कालक्रमेण साम्प्रतं तद्धि लुप्तप्रायमेव दृग्गोचरीभवतीति संक्षेपतोऽत्र प्रत्यपीपदम्। इदानीन्तु केवलं वेदाध्ययनं कर्मकाण्डार्थैव प्रचलितं दृश्यते। परं वेदानां तात्त्विकं कारणन्तु विस्मृतमेव लोकैः। अतो भूयो भूयो वेदाध्ययनार्थं तद्विज्ञानानुसन्धानार्थञ्च सर्वैः प्रयतनीयम्। यतो वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।

वेदतत्त्वम्

अखिलसृष्टिप्रपञ्चस्य निखिलवाङ्मयस्य च जीवातुभूतो भगवान् वेद एवास्माकमपूर्वो निधिः। 'भूतं भवद्भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' इत्यस्ति समुद्घोषो वेदविषयकोऽस्माकम्। अत एव तत्तत्सम्प्रदायप्रवर्त्तका धर्म्माचार्याः स्वं स्वं सिद्धान्तं वेदमूलकमेवोपदेष्टुमचेष्टन्त। किमन्यत्, 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' "वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ" इत्यादिकं शास्त्ररहस्यं प्रतिपादयन्तः स्मृतिकारा महान्तो महर्षयोऽपि वेदमहत्त्वमेव प्रत्यपीपदन्। किन्तु हन्त हन्त ! निरवशेष-वर्णाश्रम-धर्माणां, समस्तवाङ्मय-प्रपञ्चानां, निखिल-मानुष्य-रक्षणौपयिक-कर्मणाञ्च मूलभूतस्यास्य वेदस्य किमस्ति वास्तविक स्वरूपम्? कथमेतन्य महर्षिगणगुम्फितस्य ग्रन्थस्वरूपस्याप्यपौरुषेयत्वम्? कथ वा तस्याशेषपदार्थजातस्य स्वरूपाधायकत्वमित्यत्र तु कामं शास्त्रान्तराणि हृदि निधायापि, ग्रन्थसहस्रं विलिख्यापि न तत्स्वरूप-बिन्दुमस्पृशत्कश्चिदप्याचार्यः।

वेदसम्बन्धे साम्प्रतं केवलम् ऋग्-यजुः-सामाथर्वनामभिः प्रसिद्धानां संहितानाम्,ताण्ड्य-शतपथ-गोपथादिब्राह्मणग्रन्थानाम्, ऐतरेय-तैत्तिरीयाद्यारण्यकपुस्तकानाम्, छान्दोग्य-बृहदारण्यकाद्युपनिषदामेव च ग्रहणं कुर्वन्ति लोकाः किन्तु न कदापि वर्णाक्षर-पद-वाक्य-मन्त्र-समष्टिरूपः 'ईषेत्वोर्जेत्वा॰' इत्यादि-शब्दात्मको वेदशास्त्रग्रन्थ एव वास्तविको वेदः,न चायं वसिष्ठ-

विश्वामित्रादिमानवविशेषमहर्षिभिः सन्दब्धो ग्रन्थसमूहो वेदो विशुद्धः परमेश्वरप्रणीतो भवितुं शक्नोति। अस्यापौरुषेयत्वे त्वन्यदेव निगूढं रहस्यं वरीवर्ति। वस्तुतो वेदशब्दगृहीतं मौलिकतत्त्वं त्वन्यदेव विद्यते। यस्य तत्त्वस्य व्याख्याकरणाद्धेतोः 'ताच्छब्द्य' न्यायेन शब्दात्मकग्रन्थोऽपि पुनर्वेदनाम्ना प्रसिद्धि यातः। यथा खलु व्याकरणविषयप्रतिपादकं पुस्तकं लोके व्याकरणनाम्ना प्रसिद्धिमुपयातम्। सिद्धान्तकौमुदी सर्वे व्याकरणनाम्नैव परिचिन्वन्ति। परन्तु सिद्धान्तकौमुदीपुस्तकं व्याकरणशिक्षणपुस्तकं वर्त्तते, न पुनस्तत् स्वयं व्याकरणम्। तथैव संहिता–ब्राह्मणारण्यकादयो ग्रन्था अपि न स्वयं वेदाः। इमे तु मौलिकस्यापौरुषेयस्य वेदतत्त्वस्य प्रतिपादकाः।

निश्चप्रचं ह्यनेन नास्ति मम स्वल्पोऽपि तादृशोऽभिप्रायो यदिमे संहिताब्राह्मणादयो ग्रन्था महत्त्वहीना निष्प्रयोजना अनादरणीया वा। एते त्वस्माकं सर्वस्वभूताः परमेश्वरवत्समादरणीयाः सर्वप्रयोजनसाधका वन्दनीयाश्च। एषामुपासनयैवास्माभिर्भगवान् वेदो ज्ञातुं शक्यते। विना वेदग्रन्थानां शरणग्रहणं न कथमपि वेदतत्त्वं मानवोऽवगन्तुं प्रभवतीति तेषामध्ययनं साङ्गं नितान्तमावश्यकम्। अथ किमस्ति तन्मौलि वेदशब्दाभिधेयं तत्त्वमिति विषयमुद्दिश्य धीरधिषणावधीरितधिषणधिषणाः प्रातः स्मरणीया ब्रह्मलीनाः गुरुवर्या विद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनमहाभागा मासमेकं प्रवचनं वितन्वन्तस्तत्त्वमिदमस्मानध्येतॄनवागमयन्। अत्र तदेव हि यथामति स्वस्मृत्याप्यते।

वेदार्थतत्त्वं परिज्ञातुं तत्स्वरूपमवगन्तुं वा न खल्वस्माभिरितस्ततो भ्रमितव्यं, न वा शास्त्रान्तरावलोकनयत्नैः

करणीयः । सेयं वेदाक्षरसञ्चितिरेवात्मनो निगूढं स्वरूपसौन्दर्यं विशिष्टतत्त्वसंवलितं स्वयं जिज्ञासवे स्पष्टं प्रयच्छति जायेव पत्ये उशती सुवासाः । अस्माकं मन्त्रद्रष्टॄणां महर्षिप्रवराणां विचित्रेयं पद्धतिरासीद् यत्ते यस्य तत्त्वस्य व्याख्यानाय य शब्दं प्रायुञ्जत, यान्यक्षराण्यसेवन्त तस्मिन्नेव शब्दे तस्य पूर्णं रहस्यमपि विनिहितवन्तः । यथा हृदयशब्दमेवावलोकयन्तु । अस्य सर्वं रहस्यमस्मिन्नेव निगूढं वरीवर्त्ति । शब्देऽत्र "स्वरोऽक्षरम्, सहाद्यैर्व्यञ्जनैः" इति प्रातिशाख्यनियमानुसारं स्वरव्यक्तानि त्रीण्यक्षराणि सन्ति—'हृ' इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम्, 'यम्' इत्येकमक्षरञ्च । हरणार्थकाद् 'हृञ्' धातोः "हृ" नामकमक्षरं गृहीतम्, अवखण्डनार्थकाद् 'दो' धातोः 'द' नामककमक्षरं गृहीतं 'यम्' इतिनामकमक्षरञ्च द्वयोरेतयोर्नियामकत्वेन नियन्तृत्वेन वा स्वीकृतम् । त्रयाणामेषामथ क्रमशो भवत्यर्थः— आहरणं खण्डनं नियमनञ्च । आहरणभावः, आदानभावः सङ्ग्रहभावश्चेत्यनर्थान्तरम् । खण्डनभावः, विसर्गभावः, त्यागभावश्चेत्यपरपर्यायान्वितं त्रितयम् । एतेन वस्तुन आहरणशक्तिः, आदानशक्तिः, सङ्ग्राहिका शक्तिश्च 'हृ' इत्यनेनाक्षरेण द्योत्यते । या हि शक्तिर्विसर्गात्मिका समागतान् पदार्थान् प्रतिप्रक्षिपति सा 'द' इत्यनेनाक्षरेण सूच्यते । एवं या तृतीया नियामिका शक्तिमाश्रित्येमे आदान-विसर्गक्रिये प्रचलतः, स्वव्यापारं तनुतस्तदनयोः प्रतिष्ठा-शक्तिरत्र 'यम्' इत्यक्षरेण प्रकटिता भवति । आसां तिसृणां शक्तीनां समुच्चितायस्यैव 'हृदयम्' इत्यनेन नाम्ना व्यपदिश्यते ।

वैदिके व्यवहारे विसर्गात्मिका शक्तिः 'प्राणन' शब्देनाख्यायते, आहरणशक्तिश्च 'अपानन' शब्देन व्यवह्रियते । गमनं प्राणनम्, आगमनमपाननम् । पदार्थस्य केन्द्रात्तत्परिधिमभियानं

प्राणनं भवति, अयमेव हि विसर्गस्त्यागश्च । परिधेः केन्द्रं प्रत्यागमनञ्चापाननं भवति । इदमेव हि आदानं सङ्ग्रहणञ्च । अग्रतः प्रसर्पणं प्राणनं, पृष्ठतोऽपसर्पणमपाननम् । एवमेव श्वासग्रहणक्रिया प्राणनं, निःश्वसनप्रक्रिया त्वपाननम् । अनयोः प्राणापानयोश्च यत्र केन्द्रीभूते मूलविन्दौ नियमन भवति स हि मध्यस्थो ज्ञेयः । यद्यपि सर्वसाधारणदृष्ट्या प्राणनरूपश्वासक्रियया अपाननरूपप्रश्वासक्रिययैव च मर्त्यो जीवतीति सर्वविदितम्, किन्तु वस्तुतो मर्त्यः प्राणी न प्राणनरूपेण श्वासेन न वा अपाननरूपेण प्रश्वासेन जीवति, प्रत्युत यमवलम्ब्य प्राणापानौ स्वक्रियां कुरुतस्तस्य व्यानस्य महिम्नैव जीवनं धारयति । अत एव कठोपनिषच्छ्रुतावाम्नायते—

> न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
> इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥
> ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ।
> मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥(५।५।३)

अत्र हृकारोऽपानः, दकारः प्राणः, यमिति च व्यानः । अस्या प्राणत्रय्याः समष्टिरेव हृदयमिति कथ्यते । इदमस्ति वैदिकानां पारिभाषिकशब्दानामेकमुदाहरणम् ।

साम्प्रतं प्रस्तुतप्रकरणे सौरजगल्लक्ष्यीकृत्येदमेव हि प्रोच्यते। निखिलमिदं प्रकाशमयं सौरमण्डलं जगत् सौरकिरणानां समूहमात्रमेव । इमे वै सूर्यरश्मयः सहस्रधा विभक्ता असङ्ख्यभावमापन्नाः सूर्यकेन्द्रमण्डले आवद्धाः सन्ति । सूर्यबिम्बनियन्त्रिता रश्मयः सर्वत्र प्राणदपानक्रियामालम्ब्य जगति प्रसर्पन्ति प्रकाशञ्च वितन्वन्ति । प्रत्येकसौररश्मिः स्वल्पं

स्वपृष्ठभागेऽपसर्पणं विधायैव पुनरग्रभागे प्रसर्पतीति प्रत्यक्ष-मस्त्यातपवर्धनमवलोकयतामनुभववतां विपश्चिताम्। रश्मीनां पृष्ठमभिगमनमेवापाननम्, पुरःप्रसर्पणञ्च प्राणनम्। इमावेव प्रसर्पणापसर्पणव्यापारौ प्राणापानौ। नियन्त्रणकर्त्ता सूर्यविम्बो हि व्यानः। एतदेव दाशतय्यामुच्यते—

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ (ऋ०सं०१०।१८९।२) इति

यथा एतेन हृदयशब्दोदाहरणेन तत्तच्छब्दनिगूढस्य तद्वाच्यरहस्यार्थस्य भावः प्रदर्शितस्तथैवायं वेदशब्दः स्वात्मनि किमपि निगूढं तत्त्वं बिभर्त्ति। विदधातुर्हि ज्ञानार्थको लाभार्थकः सत्तार्थकश्च विद्यते। अतो विदधातुना निष्पन्नस्य वेदशब्दस्यापि त्रयोऽर्था भवन्ति—ज्ञानं,लाभात्मकरसः सत्ता चेति। ज्ञानं चित्, लाभात्मकरस आनन्दः, सत्ता च सत्। एतत्समष्टिरेव सच्चिदानन्दः। इदमेव ब्रह्म, इयमेव विद्या, अयमेव च वेदः। एतदेव लक्ष्यीकृत्य श्रुतिराह—"वेदो ब्रह्म" (जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे ४।११।४।३) तथा 'येन वेदान् वेद ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति तस्यैतस्य ब्रह्म रसः"(शांखायनारण्यक ८।३)इति। इदमस्ति वेदतत्त्वस्य तटस्थलक्षणम्। अथ स्वरूपलक्षणमभिलक्ष्य ब्राह्मणभागे (३।१२।९१) भगवान् तित्तिरिः प्राह—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्
सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।

अर्थात् समस्ता मूर्त्तिमन्तः पिण्डाः, ये हि मरणधर्मशीलाः परिवर्तनस्वभावाश्च ते सर्वे ऋक्तत्वतः प्रजाताः। पिण्डाव-

स्थितञ्च आदान-विसर्गात्मकं गतितत्त्वं यजुः समुद्भूतं वरीवर्ति। क्रियापंगतिमुपलभ्यैव पिण्ड आत्मस्वरूपं संरक्षति। क्रियाशीलतां विहाय तु पिण्डः स्वरूपेणोच्छिद्यते। अत एव कथ्यते 'सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वद्' इति। प्रत्येकवस्तुनः पिण्डात् प्रतिक्षणं बहिर्निर्गच्छत् सूक्ष्मतरं प्राणरश्मिरूपं तेजोमण्डलमेव सामवेदः। इदमेव साम तेजोमयस्य बहिर्मण्डलात्मकस्य विभूतिमण्डलस्य सर्जकम्। मण्डलं यथा यथोत्तरं वृद्धिमुपैति तथा तथा वस्तुपिण्डस्य पार्श्वाणुद्वयमुत्तरं ह्रस्वत्वमुपयाति। अत एव साममण्डलान्तर्वर्त्तिनां मूर्त्तिभावानामुत्तरोत्तरं ह्रस्वत्वप्राप्तिकारणाद् वस्तुपिण्डतो यथा यथा वयं दूरङ्गता भवामस्तथा तथा वस्तुपिण्डानुगतो मण्डलभावोऽस्माकं संमुखे ह्रस्वीभूतो दृश्यते। समीपस्थितं वस्तु कथं स्थूलं, दूरङ्गतं च तद् कथं सूक्ष्मं प्रतीयतेऽस्य कारणं केवल पिण्डावच्छिन्ना ऋक्, मण्डलावच्छिन्नं सामैव केवलं नान्यत्। तेन च वस्तुपिण्डः ऋङ्मूर्तिः, वस्तुपिण्डस्य प्राणमण्डलात्मकं तेजोमण्डलमेव सामेति दिक्। तदस्या वेदत्रय्या विश्वव्यापकतामुद्दिश्यैव याज्ञवल्क्यो महर्षिः प्राह—'त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि'' (श.ब्रा. १०।४।२।२२) इति।

अस्माकं दृग्विषयीभूतो न पिण्डात्मक ऋग्वेदः, न च गत्यात्मको यजुर्वेदः। अपितु विभूतिलक्षणस्तेजोमयः सामवेद एव दृष्टेरालम्बनं जायते। अत एव परमेश्वरीयविभूतिषु सामवेदोऽगण्यतामरेश्वरेण कृष्णेन। अस्या वेदत्रय्याः स्वरूपविकासो ब्रह्मशब्दवाच्येनाथर्ववेदेन सोमात्मकेन सञ्जातः। तदेव श्रुत्या-प्रतिपादितम्—सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टमिति। इदमेव वेदस्वरूपमुपवर्णयता महामुनिना मनुना प्रोक्तम्—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ (म. स्मृ. १।२३)

अर्थात् प्रजापतिना लोकविधात्रा यज्ञस्वरूपनिर्माणाय अग्निवाय्वादित्येभ्यः क्रमशः ऋग्–यजुः–सामान्यलभ्यन्त तथा चतुर्थं सनातनं ब्रह्म अथर्ववेदरूपमपि प्राप्यत। चतुर्थोऽयं वेदो गोपथे ब्राह्मणेऽपि ब्रह्मनाम्नाऽभिहितोऽतोऽत्र ब्रह्मशब्देनाथर्ववेदो ह्यगृह्यत । यथा–"चत्वारो वा इमे वेदा,–ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति"(गो.ब्रा. १।२।१६)। मनोरिदं कथनं शतपथब्राह्मणोद्धृतं विद्यते । तत्र स्पष्टं प्रतिपादितं याज्ञवल्क्येन—"स इमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप,तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त,अग्ने ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः" (श.ब्रा. ११।५।८।३) इति । एवं हि ऋगग्निः, यजुर्वायुः साम चादित्यः, त्रयाणामेषां समष्टिरेव वेदत्रयी विद्यते । इयं च त्रयी अथर्वनामकेन ब्रह्मणा सम्मिल्य पूर्णमात्मस्वरूपं समेति ।

तस्या एतस्या वेदत्रय्या वैज्ञानिकं स्वरूपमुद्दिश्य मुनिर्याज्ञवल्क्यो लिखति—"यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः, स ऋचां लोकः । अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः,तानि यजूंषि स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति । तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः–त्रयी वा एषा विद्या तपति" (श.ब्रा. १०।५।२।१।२) इति । "एवं वाऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः...... अस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि" (बृह०उ०४।४।१०) इति च । अनेन सूर्योऽयं त्रयीमयो निर्दिष्टः । अथ गोपथब्राह्मणेऽपि सूर्यो वेदमयः प्रोक्तः "वेदा एव सविता" (गो.ब्रा. १।१।३३) इति । एतदतिरिक्तं शतपथब्राह्मणे ब्रह्मणः प्रजापतेस्त्रयीविद्यायाः समुत्पत्तिर्लभ्यते—"स (प्रजापतिः) श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्" (श.ब्रा. ६।१।१।८) इति ।

तदस्योपक्रमस्यायमेवाभिप्रायो यदेते ऋग्यजुःसामाथर्व-नामभिः प्रसिद्धाश्चत्वारो वेदाः क्रमशोऽग्निवाय्वादित्यसोमात्मकाः सन्ति । एष्वग्निविद्यैव ऋग्विद्या वर्त्तते, तत्प्रतिपादकः शब्दात्मको वेदग्रन्थश्च ऋग्वेदः कथ्यते । वायुविद्यैव यजुर्विद्या विद्यते, तत्प्रतिपादको वेदग्रन्थश्च यजुर्वेदः प्रोच्यते, तृतीया आदित्यविद्यायं सामविद्या निगद्यते, तत्प्रतिपादको वेदग्रन्थश्च सामवेदः प्रसिध्यति, चतुर्थी सोमविद्यैवाथर्वविद्या वर्त्तते,अस्याः प्रतिपादको वेदग्रन्थश्चाथर्ववेदनाम्ना कथ्यते । एषां घनत्वप्रवर्त्तकेनाग्निनानुप्राणितानां पिण्डानां मूर्तिस्वरूपाणां वा सम्पादको वेदः ऋग्वेदः, अयमेव पार्थिवो वेदः । तरलताप्रवर्त्तकेन वायुनानुप्राणितानां गतिस्वरूपाणां सम्पादको वेदो यजुर्वेदः, अयमेव वान्तरिक्ष्यो वेदः । विरलताप्रवर्त्तकेनादित्येनानुप्राणितानां मण्डलानां स्वरूपसम्पादको वेदः सामवेदः, अयमेव च दिव्यवेदः। अग्निमध्याः स्वरूपसमर्पको यज्ञप्रवर्त्तकः पूर्वोक्तः सोमवेद एवाथर्ववेदो विद्यते । चतुर्णामेषां वेदानां चत्वारो लोका अपि विद्यन्ते । ते यथा शाङ्खायनब्राह्मणे प्रोक्ताः—"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः । अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः । प्रजापतिस्तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा प्राणादेवेमं लोकमपानादन्तरिक्षलोकं व्यानादमुं लोकं प्रावृहत् । सोऽग्निमेवास्माल्लोकादसृजद्वायुमन्तरिक्षलोकादादित्यं दिवोऽसृजत । सोऽग्नेरेवर्चः, वायोर्यजूंषि, आदित्यात् सामान्यसृजत ।"(६।१०)इति । चरमोऽथर्ववेदः सोमरूपोऽन्नात्मकः । आद्यास्त्रयो वेदाश्च ऋग्यजुःसामनामानोऽग्निवाय्वादित्यरूपा आग्नेया अन्नादात्मकाः । अन्नादोऽग्निरन्नं सोमं स्वान्तर्लीनं करोतीति वेदत्रय्याः प्रसिद्धिः।

ऋग्वेदात्मकोऽग्निर्भूस्थानीयः, अस्माकं पुरोवर्त्ती च वर्त्तते । अतः ऋग्वेदाग्निस्वरूपप्रवर्त्तकस्य शब्दात्मकस्य ऋग्वेदग्रन्थस्यारम्भे "अग्निमीडे पुरोहितम्" इति प्राप्यते । तस्याय-

मर्यो यत् पुरः=सम्मुखे हितं=संस्थितं पार्थिवाग्नि स्तवीमि। यजुषां वेदस्य प्रारम्भो भवति "इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ:" इत्यादिना। अत्र 'वायवस्थ:' इत्यनेन पदेनान्तरिक्ष्यं गतिलक्षणं वायरूपं यजुस्तत्त्वं सूचितं भवति। आदित्यश्च सामवेदात्मकः, यो हि भूलोकादस्माद् बहुदूरं दिवि विराजते। अत एव सामवेद-संहिताया आरम्भे "अग्न आयाहि वीतये" इति पाठो लभ्यते। दूरस्थितो हि देवो वा जनो वा समाहूयते। अत्र 'आयाहि' इति क्रियापदेन द्युलोकस्य आदित्यः सङ्कीर्तितः।

तदत्र सोऽयं निर्गलितोऽर्थो यन्नेमे ग्रन्थस्वरूपा महर्षिभि-र्गुम्फिता वेदशब्दवाच्याः संहितादयो ग्रन्था वस्तुतो वेदास्तत्त्वा-त्मका वेदा वा। मौलिकं वेदतत्त्वं त्रयीरूपन्त्वन्यदेव। तदेव नित्यकूटस्थमनाद्यमीश्वरीयं च। आविर्भूतदिव्यप्रकाशैत्रं ह्यसंका-शैर्महर्षिभिर्दृष्टरहस्या इमे शब्दात्मका ग्रन्थस्वरूपा वेदास्तु मौलिकवेदतत्त्वस्य परिचायकाः। अत एव हि तदभिन्नाः प्रसिद्धा लोके। नातः परमस्माभिरत्र विचारो विधेयः, यतो युक्तमुक्तमभियुक्तैः—"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इति।

वैज्ञानिक-दृष्ट्या

वेदानां पौरुषेयत्वापौरुषेयत्व–विचारः

मन्त्रात्मकः संहितावेदश्चतुर्षु विभागेषु विभक्तो विद्यते-ऋग्वेदो यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्ववेदश्च । तत्र पातञ्जलमहाभाष्यानुसारमेकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः। सम्भूय चतुर्णां वेदानां शाखाग्रन्था एकत्रिंशदुत्तरैकादशशत (११३१) सङ्ख्यावन्तो भवन्ति । प्रत्येकशाखायाः पुनरेकैकं ब्राह्मणम्, एकैकोपनिषद्, एकैकञ्चारण्यकमपि भवति । इमे च सर्वे ग्रन्थास्त्रिणवत्यधिकत्रयस्त्रिंशच्छतसङ्ख्याकाः (३३९३) जायन्ते । मन्त्र-संहितानां सम्मेलनेन चै
धिकपञ्चचत्वारिंशच्छत (४५२४)
सङ्ख्यां स्पृर्शा
श्रुतिस्तु वेदसङ्ख्यां निर्दिशति–
"ते सर्वे त्रयो
सहस्राण्यष्टौ च शतान्यधीतीनाम्"
(१०।४।२।२५)
व भगवान् तित्तिरिः प्राह–"अनन्ता
वै वेदाः"(तै.ब्रा
) इति । औपनिषत्का आरण्यकाश्च
भागा न ब्राह्मणाताभिन्ना इति कृत्वा महर्षयो "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्युद्घोष्य सर्वानिमान् मन्त्रग्रन्थान् ब्राह्मणग्रन्थांश्च वेदनाम्नैव व्याचख्युः । साम्प्रतन्तु कालचक्रप्रभावात् उपर्युक्तासु शाखासु बह्वयो लुप्ताः । इदानीमृग्वेदस्य केवलं द्वे शाखे प्राप्येते बाष्कलशाखा शाकलशाखा च । यजुर्वेदो विभाग-

द्वये विभक्तः कृष्णः शुक्लश्च। तत्र कृष्णयजुषस्तैत्तिरीया, काठकी मैत्रायणी चेति तिस्रः शाखा उपलब्धाः सन्ति। शुक्लयजुषः शाखास्वपि माध्यन्दिनी काण्वी चेति द्वे शाखे एव पश्यामः। कृष्णयजुषस्तैत्तिरीयब्राह्मणं शुक्लयजुषश्च शतपथब्राह्मणं लभ्यते। साम्नः सहस्रशाखासु सम्प्रति तिस्र एव शाखा अवलोक्यन्ते कौथुमी जैमिनीया राणायणीया चेति ताण्ड्य–षड्विंशादयोऽष्टौ ब्राह्मणग्रन्थाश्चोपलभ्यन्ते। अथर्ववेदस्य द्वे शाखे दृश्येते पैप्पलादी शौनकी चेति। ब्राह्मणञ्चास्य गोपथमेकमेव प्राप्यते।

तस्यैतस्य पृथुप्रथितस्य वेदस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वसम्बन्धे कृते विचारे विभिन्नशास्त्राणां विभिन्ना एव विचारा दृष्टिपथमुपयान्ति। यथा—मुनिर्जैमिनिः कथयति—"अनित्यदर्शनाच्च", "उक्तं तु शब्दपूर्वकत्वम्"। "आख्याः प्रवचनात्" "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (पूर्वमीमांसा १।१।२८-३१) "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।" "अत एव च नित्यत्वम्।" (उत्तरमीमांसा१।३।२८-२९)इति।एतदनुसारं मीमांसकानामयमभिप्रायः सिध्यति यदिमे वेदा अकृतकाः कर्तुः श्रवणाभावात्। ये च वसिष्ठ–विश्वामित्रादयो महर्षयः सन्ति ते तु मन्त्रद्रष्टारो न पुनः कर्त्तारः। अतः पुरुषेणारचितत्वादिमेऽपौरुषेयाः। परमिमे स्वयमपि नोत्पन्नाः, यतः शब्दानां नित्यत्वं सर्वस्वीकृतमस्त्येव। जगतोऽनादित्वाच्चैषां शब्दानामर्था अपि नित्या एव। शब्दार्थयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वेऽपि न कस्यचन विप्रतिपत्तिः। साहित्यसम्प्रदायेऽपि कालिदासेन वागर्थयोः सम्पृक्तत्वमवर्ण्यत। अत एवेमे शब्दार्थमूलका वेदा अपि नित्या अपौरुषेयाश्च। तत्रायं मीमांसकानां मते निर्गलितोऽर्थः—वेदा अकर्तृकाः, नित्याः, अपौरुषेयाश्च।

अथ साङ्ख्या संविदन्ति—"न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः", "न पौरुषेयत्वं, तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्", "मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्" "नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्"। "तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः"। "यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते, तत् पौरुषेयम्" (सां.सू. ५।४५-५०) इति। यथाऽन्यया प्रकृतेर्नियममनुरुध्य वृक्षाङ्कुरादयः सूर्यचन्द्रग्रहादयश्च स्वयमुत्पन्नास्तथा वेदा अपि स्वयमुत्पन्नाः अतोऽनित्या वेदाः। किन्तु वेदरचयितुः पुरुषस्य प्रतिपत्तिर्नास्त्यतोऽपौरुषेया अपि ते। एवं साङ्ख्यविदां मते वेदा अपौरुषेयाः अनित्याः कृतकाश्च।

वैशेषिका वैयाकरणाश्च वदन्ति—'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे', 'ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम्' (वैशे.सू. ६।१।१-२) 'आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः' (वैशे.सू. ९।२।१३) इति च। 'न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसीति........। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति—काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकम्। शौनकादिभ्यश्छन्दसि (महाभाष्यम् ४।३।१०६) इति। कैयटश्च भाषतेऽत्र—महाप्रलयादिषु वर्णानुपूर्वीविनाशे पुनरुत्पद्य ऋषयः संस्कारातिशयाद्वेदार्थं स्मृत्वा शब्दरचनां विदधतीत्यर्थः (कैय० ४।३।१०१) इति। "तेन दृष्टं साम" ४।४।२७ वासिष्ठं वैश्वामित्रं कालेयम्। यस्य साम्नो विशिष्टकार्यविषयो विनियोगो ज्ञानातिशयसम्पत्त्या कलिनाऽज्ञायि तत्तेन दृष्टमित्युच्यते" (कैयटः) इति च।

एवमेभिः सुधीभिर्वेदानां विवक्षा द्वेधा स्वीक्रियते—शब्दरूपेणार्थरूपेण च। वेदशब्दव्यवहारे वाक्यप्रधानतायां वेदा महर्षिभिर्विरचिताः, अतस्ते पौरुषेया अनित्याश्च, किन्तु वाच्यविद्याप्रधानतायामिमेऽज्ञकर्तृका अपौरुषेया नित्याश्चेति।

अथ नव्यनैयायिकानामुदयनाचार्यः सङ्गिरति—

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात् ।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः ॥

स्यादेतत् । परतः प्रामाण्येऽपि नित्यत्वाद्वेदानामनपेक्षत्वम् । महाजनपरिग्रहाच्च प्रामाण्यमिति को विरोधः । न, उभयस्याप्यसिद्धेः । यदा च वर्णा एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादिविशिष्टवर्णसमूहरूपाणां पदानाम्, कुतस्तरां च तत्समूहरचनाविशेषस्वभावस्य वाक्यस्य कुतस्तमां तत्समूहस्य वेदस्य । परतन्त्रपुरुषपराधीनतया प्रवाहाविच्छेदमेव नित्यतो ब्रूम इति चेद्—एतदपि नास्ति, सर्गप्रलयसम्भवात्—इति, द्वि० स्तबक १ कारिकाव्याख्या)

अथोदयनस्यैव कथनमनुसरता श्रीगङ्गेशोपाध्यायधीमताप्येवमलेखि । तत्रायं निष्कर्षः सिध्यति यन्नेमे वेदाः कूटस्थनित्या न वा प्रवाहनित्याः । तेन वेदानां नित्यत्वाभ्युपगमस्ताவदभावकल्पते । किन्त्वनित्यत्वेऽपि न वेदानां महर्षिकर्तृत्वं सम्भवम्, अतीन्द्रियार्थविषयतयाऽतीन्द्रियार्थद्रष्टुरीश्वरस्यैव तत्कर्तृत्वसम्भवात् । महर्षयस्तु वसिष्ठ–शौनकादयो द्रष्टारो न कर्त्तारः । अत एवोक्तमभियुक्तैः—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥ इति

आदिपुरुष–कर्तृतया पौरुषेयत्वोपपत्तावपि परतन्त्रशरीरधारि–पुरुषनिर्मितत्वाभावादिमे वेदा अपौरुषेया एवेति निगदन्ति तद्विदः । अतोऽर्वाचीनन्यायनये वेदा ईश्वरकृताः अनित्याः पौरुषेयापौरुषेयाश्च ।

अथ प्राचीना न्यायविदो वदन्ति—'आप्तोपदेशः शब्दः।' 'स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।' (गौ.सू. १।१।७-८) 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।"(गौ.सू.२।१।६६) एतद्विवृण्वता भाष्यकारेण वात्स्यायनेनालेखि यन्मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम्। लौकिकेषु चैतत् समानमिति। आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः। दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदे दृष्टार्थो वेदभागोऽनुमानतव्यः प्रमाणमिति,आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वादिति। द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्–इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यम्। नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यादित्ययुक्तम्। शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं, न नित्यत्वात्। न भिद्यते च लौकिकाद्वाक्याद्वैदिकं वाक्यं प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन। तत्र लौकिकस्तावदपरीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारकमेवं ब्रूयाद् अधीष्व यजस्व ब्रह्मचर्यं चरेति। कुत एवमृषिरुपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति" (वात्स्यायनभाष्यम् ४।१।६०) "य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासस्य पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति"(वात्स्यायनभाष्यम् ४।१।६२) इति च।

एवं स्थिते विचारक्रमे सिद्धं भवति यत् प्राचीनन्यायमते वेदा महर्षिकृता अतः पौरुषेयाः। तेषां कूटस्थनित्यत्वाभावेऽपि प्रवाहनित्यत्वमवश्यं भाव्यम्। लौकिका अपि शब्दाः प्रवाहनित्याः, लौकिकशब्दवदेवैषां वैदिकशब्दानामप्याप्तप्रामाण्यादेव प्रामाण्यमध्यवसेयम्। भारद्वाजप्रभृतिभिर्यैरेव महर्षिभिरायुर्वेदा उक्तास्तैरेव चेमे वेदा अपि। अत एव यथायुर्वेदानां प्रामाण्यं तथैव वेदानामिति। तेन निर्गलितोऽयमर्थः प्राचीनन्याये यद्वेदा

महर्षिकृताः, पौरुषेयाः प्रवाहनित्याश्चेत्यलं प्रपञ्चितेनानेन प्रकरणेन।

एवं वेदानां पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वसम्बन्धे विभिन्नानात्मविचारान् प्रदर्श्यापि न तेषां केनापि विदुषा स्वसिद्धान्तानुसारिणी वेदस्य कस्यचनापि व्याख्या व्यतानि। प्रत्युत तन्मतानुयायिभिर्व्याख्याकृद्भिरपि न तन्मतमवलम्बितम्। उदाहरणार्थं प्रथममिह प्रदिष्टो मुनिर्जैमिनिरेवावलोकनीयः। अयं हि वेदानामपौरुषेयत्वं साधयति। 'अनित्यदर्शनाच्च०' इति सूत्रेण पूर्वपक्षमुत्थाप्य 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इत्यनेन येन सूत्रेण तत्समर्थनमकारि तस्य व्याख्या शाबरभाष्ये प्राप्यत एवं–"यन्मानुषं चरितं यदि वेदेषु वर्ण्यते तर्हि वेदास्तन्मनुष्यादुत्तरं प्रादुर्भूताः–इति अनादित्वमपौरुषेयत्वञ्च वेदानां भज्येतेति शङ्का। न सन्त्येव वेदेषु मानुषाणि चरित्राणि, नामसादृश्यमूलया तु भ्रान्त्या नित्यपदार्थसम्बन्धिवर्णनं मानुषमित्यभिमन्यते केश्चित्। यथा 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादिषु बब-इति शब्दानुकृत्या 'बबरः' इति वायुरभिधीयते। स च प्रवहणशीलः–इति प्रावाहणिरुक्तः। अत्र प्रवहणपुत्रो बबरनामा कश्चिन्मनुष्योऽपि भवेत्तदितिहासभ्रान्तिर्लोकानां जायते। वस्तुतस्तु वाय्वादेर्नित्यस्यैवेदं वर्णनमिति तत्समाधानं चेति।

एतेनेदं साधितं यदकर्तृकेषु नित्यकूटस्थेष्वपौरुषेयेषु वेदेषु मनुष्येतिहासस्यासम्भवात् स वेदेषु नास्त्येवेति। किन्तु मीमांसकानां सिद्धान्तमिममनुसृत्य नैव स्वयं शाबरभाष्यकृता धीमता तादृशो वेदव्याख्याऽलिख्यत। किमन्यत्, सुप्रथिताभिधेयाः सायण–माधव–महीधरोव्वटप्रभृतयो वेदभाष्यकारा अपि भाष्य-

भूमिकायां मीमांसकमतं स्वीकृत्यापि भाष्यलेखनसमये सर्वद मतमदः कूपे पातयामासुः यथा (ऋ.सं. १।११०।२)—

आभोगयं प्र यदिच्छन्त ऐतनापाकाः प्राञ्चो मम के चिदापयः
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम् ॥

मन्त्रस्यास्य भाष्ये सायणोऽलेखीत्, "ऋभवो हि सुधन्व. आङ्गिरसस्य पुत्राः। कुत्सोऽप्याङ्गिरसः, अतस्तेन मदीया आ. इत्युक्तम्। हे सौधन्वनास ! सुधन्वनः पुत्राः········ इत्यादि। अस्यैव सम्बन्धे निरुक्तकारेणापि स्पष्टमलेखि-"ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः" (निरु. ११।१६) इति। एवमेवासौ—

प्रातारत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्रतिगृह्या नि धत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः ॥

मन्त्रस्यास्य (ऋ. सं. १।१२५।१) भाष्येऽपि दीर्घतमः कक्षीवतोः सर्वमितिहासं वैशद्येन लिलेख। हन्त,सम्पूर्णमेव सूक्तं तदेव वृत्तमाश्रित्य व्याख्यातं तेन महात्मना। अग्रेऽपि "युवं च्यवानं चक्रयुर्युवानम्०" अस्मिन्मन्त्रेऽपि च्यवनमहर्षेराख्यानं वरीवर्त्ति। एवमनेकशो मन्त्राः सायणमाधवीये भाष्ये सेतिहासा व्याख्याताः पठ्यन्ते। न केवलं मन्त्रसंहितास्वेव, अपित्वैतरेयादि-ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि नहुष-हरिश्चन्द्रादीनां पुराणप्रसिद्धानां मानुषाणां राज्ञामितिहासा मनुष्यचरित्ररूपेण वर्णिता भाष्यकारैः। हंहो,श्रीशङ्कराचार्यपादा अपि उपनिषत्सु समायाता आख्यायिका मनुष्यरूपेणैव व्याख्यातवन्तः। शङ्करपरवर्त्तिनोऽन्येऽपि व्याख्यातारस्तानेवानुसृतवन्तः। किमन्यद्भगवान् व्यासोऽपि 'शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्, सूच्यते हि' 'क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्र-

रथेन लिङ्गात् ।'(ब्रह्मसूत्रम्.अ.१।पा०३,३४,३५)इत्यपशूद्राधिकरणे उपनिषत्सु मानवाख्यानममिमनुते । साक्षाद्वेदकोटौ स्वीकृते गोपथब्राह्मणेऽपि लिखितं विद्यते यद् "इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः.........इत्यादि" (गो.ब्रा.पूर्व प्र. १।२।१०) इति ।

एवं वेदानां पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविवादप्रवाहे प्रवहन्तः प्राचीनाः सन्तः परमं परिश्रम्यापि न कथमपि निश्चितबिन्दुमस्पृशन्, नापि चार्वाचीना विपश्चितः संशीतिशून्यां परिणतिमवाप्नुवन् । हेतुरयमेव, यद्वैदिकयुगानन्तरं क्रमशो विद्वांसो वेदानां वास्तविकस्वरूपज्ञानतो दूरीभूताः सन्तो वेदमन्त्राणां स्वरपारायणेन पद-घन-जटा-पाठादिना वा पारलौकिकफलाप्तिवाञ्छां कुर्वाणाः कस्यचन लोकोत्तरपरब्रह्मणः प्राप्तिं वा ऽसि मन्यमाना वेदाध्ययनस्य चरमं लक्ष्य वक्तुं प्रवृत्ता अभोवन् । एतदतिरिक्तं न वेदानां किमपि जागरूकं महत्त्वं वैशिष्ट्यं वा ते जिज्ञासामासुः । अत एव सुप्रथितेन वेदभाष्यकारेण सायणाचार्येणापि वेदं परिचाययता स्पष्टमुक्तम्—"इष्टानिष्टपरिहारोपायमलौकिकं यः शब्दराशिः प्रतिपादयति स वेदः" इति । विश्रुतान् श्रोत्रियान्, शास्त्रसर्मज्ञिनो दर्शनशास्त्रिणो विवृतिपरायणान् वैयाकरणादींश्च तस्मिन्नेव वैदिकविज्ञानसरणिभिन्ने मार्गे गच्छतो लोकं लोकं साधारणा अपि लोकाः 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इत्युक्तिं चरितार्थयन्तो वेदस्य वास्तविकस्वरूपज्ञानतो बहुदूरङ्गताः । तस्यैवायं परिणामो यद्वैदिको वर्गो मनस्विनां दृष्टौ वेदाभ्यासजडमतिरित्युपाधिना समभूष्यत ।

वस्तुतो वेदाभिधेयं मौलिकं तत्त्वं किमप्यन्यदेव । तदुद्दिश्यैव "वेदा वै सविता" (गो. ब्रा. १।१।३३) "स इमानि

ज्योतींष्यभितताप, तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त" (श. ब्रा ११।५।८।३) "प्रजापतिस्त्रय्या विद्यया सहाऽपः प्राविशत्" (मा. श. ६।३।१।१०) "वाचाऽष्टयादेवास्त्रयीं विद्यां निरखनन्" (मा. श. ब्रा. ७।५।२।५२) "स प्रजापतिः श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मं व प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्" (मा.श ब्रा. ६।१।१।८) "मण्डलमेव ऋच, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि"(श ब्रा. १०।३।५) "ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्तिमाहुः०" (तै.ब्रा ३।१२।६) "सैषा त्रयीविद्या एव तपति" (श.ब्रा.१०।५।२)

न हि कदापि वर्णाक्षर-पद-वाक्य-मन्त्रसमष्टिरूपाः शब्दात्मका वेदशाखाग्रन्था एव सवितृदेव इति प्रतिपादयितुं शक्यते। न वा तप्तेभ्यो ज्योतिर्भ्यो वेदग्रन्थानामुत्पत्तिं स्वीकर्त्तुं कश्चन चेतस्वी प्रस्तुतः, नाप वर्णाक्षररूपया वेदत्रय्या सह प्रजापतिरापः प्रविश्य तां सुरक्षितुं प्रभवति, नैवाप ग्रन्थमयीं वर्णाक्षरवतीं त्रयीं विद्या देवा निरखनन्, न च ऋक्संहितामन्त्रपुञ्जं सूर्य्यमण्डलं कथयितुं कश्चन शक्नोति, नार्चिः सामानि, नापि च पुरुषो यजूंषि, नापि च कोऽपि सचेता ऋक्संहितामन्त्रेभ्यः समुत्पन्ना निखिला दृश्यमूर्तीः सम्मन्तुं साहसं करोतीति निश्चप्रचं मौलिकं वेदतत्त्वं किमपि भिन्नमेव। तदाश्रित एव च वेदानां पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविचारः। अतस्तदप्यत्र किञ्चित् प्रदर्श्यते—

यद्यपि विदधातोर्ज्ञानार्थसत्त्वे शब्दज्ञानजनका एव ऋग्यजुः-सामादिग्रन्थविशेषा वेदाः सन्तीत्येव सर्वत्र प्रचारः। किन्तु विद ज्ञाने, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम् इत्येवं विदधातोर्ज्ञानरूपोऽर्थः, रसलाभार्थरूपोऽर्थः सत्तारूपश्चार्थो भवति। तत्र ज्ञानं चित् लाभात्मकरस आनन्दः, सत्ता च सदिति कथ्यते। त्रयाणां समष्टिः सच्चिदानन्दोऽस्ति। अयमेव हि ब्रह्मपदवाच्यो

भवति, अयमेव च वेदपदार्थः। इदमस्ति वेदस्य तटस्थलक्षणम्। साम्प्रतमस्य स्वरूपलक्षणेऽपि दृष्टिपातः करणीयः। यदुद्दिश्य तैत्तिरीये ब्राह्मणे (३।१२।९) लिखितमस्ति—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं हि शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

वस्तुतो यैर्वस्तुनः प्रत्यक्षं ज्ञानं जन्यते तेऽपि ऋग्-यजुः-सामादिवेदा एव। अतो वेदो द्विविधः प्रतिपत्तव्यः—वैज्ञानिको वेदः शाब्दिकश्चेति। यतो हि आत्मावैष वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः। तत्रैयं वाग्द्विविधा भवति–शब्दब्रह्मरूपा,अर्थब्रह्मरूपा च। शाब्दिकवाग्विवर्त्तः शब्दमयः शाब्दिकवेदः, आर्थिकवाग्विवर्त्तो विज्ञानमयो विज्ञानवेदः। शब्दग्रन्थो वेदस्य शरीरं, विज्ञानञ्च तदात्मा। एक एवायं वेदः शरीरेणात्मना च द्वेधा प्रतिपद्यते। विज्ञानवेदमेवोद्दिश्य भगवता तित्तिरिणा समकथ्यत —"ऋग्भ्यो जाताम्०" इत्यादि। एवमेव शातपथी श्रुतिरपीयं समेव निर्दिशति—"सा वा एषा त्रयी विद्या तपति । य एतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (१०।५।२) इति।

यद्यपि प्राक्तना विद्वांसो वस्तुनः प्रत्यक्षीकरणे चक्षुषोरेव वहिर्गमनं मन्यन्ते, किन्तु शरीरस्य भोगसाधनत्वेन शरीराद्वहिश्चक्षुरादीन्द्रियाणां ज्ञानजनकत्वेनासम्भवान्नेदं युक्तियुक्तम्। अन्येषां कतिपय-विदुषां साम्प्रतिकविज्ञानजुषां कथनमस्ति

यत्तत्तत्पदार्थस्पृशः प्रकाशकिरणा एवास्मच्चक्षुषोरागत्य तत्तत्पदार्थज्ञानं जनयन्ति। किन्त्विदमपि मतं नारोचत वैदिकविज्ञानाय।

वस्तुतः "प्रजापतिश्चरति गर्भे०" इति श्रुतेरनुसारं तत्तत्पदार्थकेन्द्रस्थितास्तत्स्वरूपाधायकाः प्राजापत्यप्राणा यावद्बलमविरत परितः प्रकाशकिरणैः सह दूरं प्रसरन्ति, तैरेव च चक्षुःसम्बद्धैः प्राणैस्तत्तत्पदार्थभानं जायते-इत्यस्ति वैदिकं विज्ञानम्। यावाश्च तत्तत्पदार्थप्राणानां प्रसारस्तावत्प्रदेशान्तर्भूता एव लोकास्तं तं पदार्थं द्रष्टुं शक्नुवन्ति। तत्प्रसारवहिर्भूतैर्जनैर्न स पदार्थो वीक्षितुं शक्यते। प्रतिपदार्थञ्च विभिन्नानां प्राणानां न्यूनाधिकरूपेण प्रसरणं भवत्येव। अत एव राजिकासर्षपादयो निकटतमेनैव जनेन विलोक्यन्ते, स्तूप-पर्वतादयश्च दूरस्थितेनापि द्रष्टुं शक्यन्ते। अत्र प्रतिपदार्थं स्पृश्या मूर्तिर्महोक्थम्, महोक्थादुत्थिता उक्थः पृष्टपर्यन्तं परितः सञ्चरन्त्य उत्तरोत्तरं ह्रस्वीभवन्त्यश्च स्पर्शानुभवशून्या दृश्या मूर्तय उक्थानि। परितः उक्थमूर्तीनां वितानं साम। वितानमेव गानम् गीतिषु सामाख्या वेदे प्रसिद्धैव।

सोऽयं वेदोऽपौरुषेयः प्रतिपत्तव्यः ईश्वरप्रजापतिरूपत्वात्। यस्तु पुनरपौरुषेयवेदप्रत्ययजनकः शब्दग्रन्थः सोऽपि शब्दार्थयोस्तादात्म्यसिद्धान्ताद्वेद एवोच्यते। यथा व्याकरण-साहित्य-ज्योतिषादिपुस्तकानां व्याकरण-साहित्य-ज्योतिषादिशब्देन व्यवहारो लोके प्रचलितः। तत्रायं शाब्दो वेदः पौरुषेयः प्रतिप्रतिपत्तव्यः। अतएवोक्तमभियुक्तैः—"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वैशे. सू.) इति।

तमिमं विश्वकारणविज्ञानभूतं ब्रह्मविद्यामयं शाब्दिकं वेदं संसारे सर्वतः प्रथमं हिरण्यगर्भब्रह्मद्रष्टृतया हिरण्यगर्भाख्यो भौमो ब्रह्मा प्रचारयाम्बभूव। यथोक्तं मुण्डकमहर्षिणा—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह,भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥

अत्र ब्रह्मशब्देन वेदशास्त्रग्रहणं तस्यैव सर्वज्ञादीश्वरात् प्रादुर्भावः सम्भवः। आत्मब्रह्मणस्तु नित्यत्वेनाजत्वेन चानुत्पाद्यत्वात्। अस्मिन् वेदशास्त्रे च ब्रह्म व्याख्यातं भवति, विश्वस्य प्रभवोऽयमात्मा तु ब्रह्मतत्त्वमिति स्वीक्रियत एव सर्वैः। अतो ब्रह्मोत्पादकत्वादेतस्मिन् वेदशास्त्रेऽपि ब्रह्मशब्दोऽनुवर्त्तते। अथर्वा अङ्गिराः शौनकः–इत्याद्या वेदप्रवर्त्तका ब्रह्मर्षयो नतु वेदजनकाः। ईश्वरशरीरभूतस्यैतस्य ब्रह्मणो वेदस्यापौरुषेयत्वमेव किन्तु वर्णाक्षरपदवाक्यवतां तत्तद्ग्रन्थाना तु पौरुषेयत्वमेवेत्यलं प्रपञ्चितेन।

(गुरुवरश्रीमधुसूदनमैथिलानां ग्रन्थानाधारीकृत्य लिखितः)

वैदिककालिकं राज्यं, राष्ट्रभावना च

ऋग्वेदीयस्यैतरेयब्राह्मणस्याष्टमाध्याये वैदिककालिकानां विभिन्नराज्यानां नामानि पठ्यन्ते। तेषु कतिचनेमानि सन्ति प्रमुखानि–साम्राज्यम्, भोजराज्यम्, स्वाराज्यम्, वैराज्यम्, पारमेष्ठ्यराज्यम्, महाराज्यम्, आधिपत्यमयं राज्यम्, समन्तपर्यायिराज्यञ्च।

वेदव्याख्यातार आचार्याः स्वस्वदृष्ट्या एषां राज्यानां विभिन्नप्रकारेण विवेचनमकार्षुः। एषु सर्वप्रथमं राज्यं साम्राज्यं वरीवर्त्ति। वैदिकसाहित्यस्य पर्यालोचनेनेदमपि ज्ञातं भवति यदेतेषु सर्वविधेष्वेव राज्येषु निरङ्कुशता नैवासीदिति। सर्वेष्वेव च राज्यविधिषु जनताया हस्तक्षेपो भवति स्म।

वैदिककालिकं साम्राज्यं वर्त्तमानकालिकसाम्राज्यवादिनां देशैः सह न तोलयितुं शक्यते। यद्यपि तदानीमपि दुराचारिणो दुष्टाचरणानामत्याचारिणां राज्ञां शमनं क्रियते स्म तेषां स्थाने च योग्यशासकानामभिषेकोऽपि विधीयते स्म किन्तु विजितराजानां शासितदेशं वर्त्तमानमिव नैव कश्चन नष्टं भ्रष्टं चिकीर्षाञ्चकार, न च प्रजाजनानेव कश्चिदजिघांसत्। तस्मिन् समये उन्मार्गगामिनं शासकं राज्यासनान्निपात्य योग्यशासकं स्थापयन्ति स्म लोकाः। तञ्च माण्डलिकशासनं स्वीकुर्वन्ति स्म। इदमेवासीत् प्राचीनकालिकं साम्राज्यम्।

भौज्यराज्ये राज्यस्य प्राकृतिकसीमा भवतिस्म। तस्मिन् परिमिते देशे एव तस्य शासकस्य शासनमधिकारो वा भवति स्म। यद्यत्र पाकिस्तानविभाजनं नाभविष्यत्तर्हि भारतं वर्षं भौज्यराज्यस्योदाहरणं भवितुमशक्ष्यत्। यतोऽत्र भारतमभितो जलस्य प्राकृतिकसीमा वर्त्तते।

स्वाराज्ये शासने यमनियमादीनां पालनं विशेषरूपेण क्रियते स्म। अस्मिन् राज्यशासने प्रच्छन्नं चौर्यव्यापारं गुप्तधनप्रदानादिकञ्च सर्वथा नासीत्। प्रबलात्मानः समुच्चविचाराः लोकास्तदा आसन्। अधिकारिणोऽपि स्वाराज्ये न प्रलोभिनो न च प्रमादिनो न वा कार्यचौरा आसन्।

वैराज्यमिधे राज्ये कस्यचनैकस्य राज्ञो नाधिपत्यं भवति स्म। जनतैव संविधाननिर्माणकार्यं करोति स्म सैव च सम्मिलितरूपेण शास्तिस्म। परन्तु नेदं कस्मिंश्चन विशाले भूभागे भवति स्म। सीमितप्रदेशे एव एतादृशेन राज्येन भूयतेस्म।

पारमेष्ठ्यराज्ये सर्वेषां समानाधिकार आसीत्। इदं राज्यं परमेष्ठिनोऽर्थात्परमात्मन एव राज्यमासीत्। अस्मिन् राज्ये शासकः सर्वत्र सर्वदा परमात्मनो विद्यमानतामवगच्छन् परमं सतर्कः सन् प्रजाः प्रशास्तिस्म। अत एव राज्येऽस्मिन् अपराधा न क्वापि श्रूयन्ते।

महाराज्यं बहूनां लघुराज्यानां सम्मिलितरूपमासीत्। अतः शासनकर्मणि सर्वेषामेव लघुराज्यानां समानोऽधिकारस्तिष्ठति स्म। शासनविधेः संविधानमपि सर्वैरेव लघुभिरेभिः विभिन्नराज्यैः सम्मिल्य विधीयते स्म। सम्भवतः इदमेव आधुनिकं सङ्घराज्यमासीत्।

आधिपत्यराज्यनाम्नेदमेव प्रतीयते यदिदं राज्यमव..मेव वर्त्तमानकालिकं साम्राज्यवादिनां राज्यसदृशमासीत्। अस्मिन् राज्ये एकस्यैव कस्यचन राज्ञः प्रभुत्वं भवति स्म। परन्त्विदमवश्यमासीद्यदाधुनिकसाम्राज्यवत्त तदानीं शासकस्य स्वेच्छाचारिता कुत्रचन श्रूयते स्म।

समन्तपर्यायिराज्ये माण्डलिका राजान आधिपत्यं कुर्वन्ति स्म। एषु कश्चन एको महत्त्वशाली शासकः प्रशासनं चालयति स्म। अन्ये माण्डलिकराजानश्च तदधीनाः कार्यं कुर्वन्ति स्म।

एतदतिरिक्तं यजुर्वेदे (६. ४०) एकस्य कस्यचन जानराज्यस्यापि नाम समुपलभ्यते। सम्भवतः इदमेव जानराज्यं साम्प्रतिकं जनराज्यमासीत्। अस्मिन् प्रजाजनैर्निर्वाचित एव जनो राष्ट्रं प्रशास्ति स्म। ईदृग्विधस्य प्रजाजन-निर्वाचितस्य राष्ट्रशासकस्य सम्बन्धे ऋग्वेदे (१०।१७३।१) ह्यपि समुल्लेखो लभ्यते। यथाहि—

> आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
> विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥

अस्यायं भावः, हे विशिष्टजन! त्वं राष्ट्रस्य शासकत्वेन नियुक्तोऽसि। त्वमस्मिन् पदे निश्चलो भूत्वा तिष्ठेः। त्वया ईदृग्विधया शासनप्रणाल्या कार्यं करणीयं येन प्रजाः सर्वास्त्वामेव इच्छेयुः, तथा त्वदधीनमिदं राष्ट्रमपि न भ्रंशेदिति।

ऋग्वेदस्य तथा अथर्ववेदस्यापि अनल्पानां मन्त्राणामिदमेव तात्पर्यं प्रकटितं जायते यद्वैदिके युगे जानराज्यमिदं सर्वेषां

सर्वाधिकं प्रियमासीत्। कारणमेतस्यैतदेव प्रतीयते यदस्मिन् राज्यविधौ जनताद्वारा निर्वाचितो विशिष्टजन एव शासको भवति स्म, कस्यचन शासकस्य जन्मसिद्धोऽधिकारः प्रायो नैव जायते स्म। अथ वेदाध्ययनेन त्विदमपि प्रकटितं भवति यत् कश्चनापि शासकः प्रजाजनविरुद्धं न कदापि शासनासनमध्यासितुं प्रभवति स्म। प्रजाजनाः सदैव स्वशासकमिदमेव कथयन्तिस्म यत्—

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभिपृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति॥
(ऋ. १०।१७४।२)

अर्थाद् हे राजन्! ये अस्माकं देशस्य शत्रवो वर्त्तन्ते ये च सैन्येन सह अस्मदाक्रमणं चिकीर्षन्ति, तानाक्रम्य स्ववशे कुरुष्वेति। मन्त्रस्यास्य उत्तररूपे अथर्ववेदे (१२।१।५४) एको मन्त्रः प्राप्यते—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहि॥

अर्थाद् (राष्ट्रपतिपदमधितिष्ठन्) अहमस्याः राजभूम्याः सर्वविधदुःखजातं दूरीकर्त्तुं सर्वविधविपज्जातञ्च सोढुं प्रस्तुतोऽस्मि। तानि कष्टानि ताश्च विपदः कुतोऽपि समागच्छेयुरिति।

तदानीन्तने काले स एव राष्ट्रशासको भवितुं शक्नोतिस्म यस्तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी च भवति स्म। अथर्ववेदे सोऽयं प्रसङ्गः प्राप्यते—"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति" (अथर्व० ५।१।७) इति।

वैदिककाले सर्वे एव जनाः स्वराष्ट्राय स्पृहयन्ति स्म। तथा ते सदा राष्ट्रस्य हितचिन्तने तत्परास्तिष्ठन्ति स्म। तेषामयं महान् घण्टाघोष आसीत्"वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः"(यजुर्वेदे९।२३) इति। अर्थाद्वयं सर्वे राष्ट्रवासिनो लोकाः सदा स्वराष्ट्रे पुरस्तिष्ठन्तो जागरूकाः स्याम। राष्ट्रभावनया प्रेरिताः सर्वे लोकाः प्रतिदिनं भगवन्तमिदमेव याचन्तेस्म—

> "आब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्,
> आराष्ट्रे राजन्यः, शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुः, वोढाऽनड्वान्,
> आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः,
> सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्,
> निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न
> ओषधयः पच्यन्ताम्, योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥
> (यजुः २२।२२)

अर्थात् हे परब्रह्मन्!अस्माकं राष्ट्रे ब्राह्मणाः ब्रह्मतेजस्विनो भवन्तु, क्षत्रियाः शूरवीराः, धनुर्धारिणः, नीरोगाः महारथिनश्च भवन्तु, धेनवः पयस्विन्यो भवन्तु,वृषभाः भारवोढारः सन्तु,हयाः आशुगामिनः सन्तु, स्त्रियः रूपगुणशीलाः सन्तु, रथिनश्च जयशीलाः जायन्ताम्। यज्ञकर्तुः पुत्रः युवकः सभाप्रियः वीरश्च उत्पद्यताम्। समये समये अस्माकं राष्ट्रे पर्जन्यः वर्षतु अन्नादिका ओषधयः फलवत्यः सत्यः पच्यन्ताम्। अस्माकं राष्ट्रप्रियाणां योगक्षेमः भवतु। इति।

वैदिकेऽन्नेहसि जनमानसेषु इयतो राष्ट्रभावना वृद्धिङ्गता वर्त्तते स्म यया प्रेरिता जना राष्ट्ररक्षार्थं देवानपि प्रार्थयन्तेस्म। यथा ऋग्वेदे (१।१७३।५):—

'ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥

अर्थाद्वरुणः, बृहस्पतिः, इन्द्रः, अग्निश्चेमे सर्वे एव देवा अस्माकं राष्ट्रं सुस्थिरं कुर्वन्त्विति।

तदानीं सर्वेषामेव मनसीयं शोभना भावना सम्भृता भवति स्म यत् "व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये" (ऋग्वेदे ५।६६।६) इति । अर्थात् परमविस्तृतस्य बहुजनपालितस्य चास्य स्वराज्यस्य रक्षार्थं वयं सततं यत्नशीलाः स्म इति ।

यज्ञोपवीत-विज्ञानम्

यज्ञोपवीतं सूत्रं यज्ञोपवीतमिति वदन्ति जगन्ति । यज्ञोपवीतनाम्नैवास्माकं मानसम्—आधिदैविकाऽऽध्यात्मिकाधिभौतिकयज्ञाननिकृष्टं जायते । अतोऽवश्यं यज्ञोपवीतरहस्यं जिज्ञासमानानां कृते प्रथमं यज्ञस्वरूपपरिज्ञानमावश्यकतां कल्पयति ।

द्वयोर्वस्तुनोः पारस्परिको योगो द्विविधो भवति—योगो यागश्च । साधारणो बाह्यसम्बन्धो योगः, अन्तःसम्बन्धश्च यागशब्देनाभिधीयते । वपुषा साकं वसनानां सम्बन्धो योगः किन्तूदरसास्कृतस्यान्नस्य यः शारीरिकः सम्बन्धः स यागः । विजातीयस्य वस्तुद्वयस्य रासायनिकः सम्बन्ध एव यागः कथ्यते । अस्मिन् रासायनिके सम्बन्धे हि पूर्वरूपस्य विलयनेन सहैव किमप्यपूर्वं रूपं समुदेति । अयमेव यागसम्बन्धो वैदिकपरिभाषायां यज्ञाभिख्यां बिभर्ति । "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः" "यज्ञादेवेदं सर्वमसृज्यत" इत्यादिश्रुत्यनुसारं सृष्टेः प्रत्येकं वस्तु याज्ञिकप्रक्रियया समृद्धिं वहति, यज्ञ एव प्रतिष्ठितं भवति, तस्मिन्नेव विलीनं भवति च। इयं च यज्ञविद्यैवास्माकं विज्ञानविद्या विद्यते, येषां मौलिकत-

त्वानां समन्वयेन च यज्ञस्वरूपस्य निष्पत्तिर्भवति तदेव मौलिकं तत्त्वं वैदिकविज्ञानपरिभाषायां 'ब्रह्म' व्यवह्रियते। इदमेव ब्रह्म यज्ञस्य प्रतिष्ठां बिभ्रद् यज्ञविद्याया आधारधरां धारयति। अत एव ब्राह्मणग्रन्थेषु 'यज्ञो वै ब्रह्म' इत्यकथ्यत। इयमेवास्माकं वैदिको विज्ञानविद्या आङ्ग्लभाषायां 'Chemistry' शब्देन, मौलिकं तत्त्व ब्रह्म च 'Physics' शब्देन शब्द्यते।

"अग्नीषोमात्मकं जगत्" इति श्रुतेरनुसारं समस्तः संसारः "अग्नीषोमात्मक." मन्यते। एवं प्रतिपादनस्यायमेवाभिप्रायो यद् दाहात्मकं निखिलं तत्त्वजातमग्निपदवाच्यमुच्यते, दाह्यस्वभावात्मकं समस्तं तत्त्वजातञ्च सोमरूपमभिधीयते। यज्ञस्वरूपप्रतिपादकानि तत्त्वानि भवन्तु नाम बहुविधानि परं तानि निखिलानि वैदिकविज्ञानपरिभाषायामग्नीषोमात्मकरूपाणि कथयिष्यन्ते। अनयोश्चाग्नीषोमयोः पूर्वोक्तो यागात्मको योग एव यज्ञोऽस्ति।

यज्ञोऽयमाधिभौतिके आध्यात्मिके आधिदैविके च त्रिविधेऽपि जगति निरन्तरं प्रवर्त्तमानो वेविद्यते। इदं भौमं जगदाधिभौतिकी सृष्टिरस्ति, अत्र पार्थिवाग्नेरोषधरूपसोमस्य च समन्वयाद् यज्ञः सम्पद्यते। दाम्पत्यरूपात्मिका आध्यात्मिकी सृष्टिर्वर्तते। अस्यां सृष्टौ स्त्रियो गर्भाशये प्रतिष्ठते शोणितरूपाग्नौ पुरुषप्रतिष्ठितस्य शुक्ररूपसोमाहुत्या आध्यात्मिको यज्ञः स्वरूपं धत्ते। रेतः सोमः इति सार्वजनीनमेव (कौषी० ३-७) अथवा हृदयान्तःस्थे ज्ञानाग्नौ सत्त्वसोमसमन्वयेनाध्यात्मिको यज्ञः सम्पद्यते। सौराग्नि-चान्द्रसोमयोः संयोगाच्चाधिदैविकयज्ञस्य स्वरूपमुपपद्यते। एतामेव प्राकृतिकयज्ञप्रक्रियामाधारीकृत्य साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयो दर्शपौर्णमासादिविभिन्नान्

वैधयज्ञानादिश्चक्रुः। एतेषां यज्ञानां विभिन्नताया निदाने सैषा प्राकृतिकयज्ञ-विद्यैव निहितास्ति।

अस्माकमिदं यज्ञोपवीतमाधिदैविकेन सौरयज्ञेन विशिष्टं सम्बन्धं कलयति। सौरयज्ञसम्बन्धिनौ अग्नीषोमौ उभावपीमौ ऋतसत्यभागाभ्यां विभक्तौ स्तः। केन्द्रयुक्तपदार्थः सत्यशब्देन, अकेन्द्रीयपदार्थश्च ऋतशब्देन कथ्यते। एतद्दै दिकपरिभाषानुसारं सूर्यः सत्याग्निपिण्डश्चन्द्रमाश्च सत्यसोमपिण्डो वर्तते। अग्नीषोमाविमौ द्वावपि सूर्याच्चन्द्रमसश्च प्रवर्ग्यरूपेण पृथग् भवन्तौ स्तः। यः सौराग्निः सूर्यपिण्डात् पृथग्भूय पवने प्रतिष्ठितो भवति स एव विकीर्णः केन्द्रशून्योऽग्निः (ऋतवायव्याग्नि.) दक्षिणस्यां दिशि प्रतिष्ठितो भूत्वा अविरतमुत्तरमभिगच्छति, ऋतवायव्यसोमश्चोत्तरस्यां दिशि प्रतिष्ठां प्राप्य दक्षिणां दिशमभिगच्छंस्तिष्ठति। एतयोरुभयोः ऋताग्नीषोमयोः सयोगादेव चाग्नीषोमात्मकः ऋतुभावः समुत्पद्यते। अस्माकं वैज्ञानिकाः पूर्वाचार्याः ऋताग्नेरस्य न्यूनाधिकत्वादेवेमान् ऋतून् षोढा व्यभजन्। एतेषु वसन्त-ग्रीष्म-वर्षासु ऋताग्नेः प्राधान्यं लोलुक्यते।

अस्माकं महर्षयो महर्षयो नूनमेषां नामान्यपि अग्नीषोमयोस्तारतम्येनैवाकारिषुः। यथा यस्मिन् कालेऽग्निकणाः पदार्थे वसन्तो भवन्ति स कालो वसन्तः। यस्मिन् कालेऽग्निः सातिशयं पदार्थान् गृह्णाति तदुपलक्षितः कालो ग्रीष्मः। यस्मिन् कालेऽग्निर्वर्षीयान् भवति स कालो वर्षाः। यस्मिन् कालेऽग्निकणाः हीनतां यान्ति स कालो हेमन्तः। यत्र च पुनरतिशयेन अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति स कालः शिशिरः।

एषु त्रिषु ऋतुषु अग्ने. प्राधान्येन ते देवर्तवः सन्ति अन्तिमेषु च त्रिषु ऋतुषु सोमस्य प्रधानतया ते सौम्याः ऋतवः कथ्यन्ते। अग्नीषोमात्मकानामेतेषां षण्णामृतूनां समन्वितं रूपं यज्ञशब्देनोच्यते। अतएव भगवती श्रुतिरपि स्थाने स्थाने कथयति 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्' 'अयमेव संवत्सरो यस्तपति' संवत्सरो वै यज्ञः (शत ब्रा.) संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः (ऐत. ब्रा.) "स ह वा एष संवत्सर एव यदग्निषोमः (ऐत. ब्रा.) इत्यादि।

अस्य संवत्सरात्मकयज्ञपुरुषस्योत्तरायणं दक्षिणायनं विषुवद्वृत्तञ्चेति त्रीणि प्रधानपर्वाणि भवन्ति। इमान्येव देव-पितृ-मानुषसृष्टीनां प्रवर्त्तकानि सन्ति। अमीषां त्रयाणां सञ्चालको भगवान् सहस्रदीधितिः सूर्यो विषुवद्वृत्तस्य केन्द्रे प्रतिष्ठितो वर्तते सूर्यञ्च केन्द्रे रक्षन् भूपिण्डः सूर्यमभितो येन निश्चितमार्गेण भ्रमति स पृथ्वीपरिक्रमणमार्गः क्रान्तिवृत्त-नाम्नाऽभिधीयते। इदमेव क्रान्तिवृत्तं सौरसंवत्सरात्मकयज्ञस्य सीमानिर्धारकमेकं छन्दोमयं सूत्रं वरीवर्ति। अतः क्रान्तिवृत्तरूपमिदं छन्दःसूत्र 'यज्ञसूत्र' नाम्नापि व्यवह्रियते। अस्मिन् क्रान्तिवृत्तात्मके छन्दःसूत्रे उपर्युक्तान्युत्तरायणादीनि यान्यवान्तराणि त्रीणि पर्वाणि भवन्ति तान्येव यज्ञसूत्रापरपर्यायस्य यज्ञोपवीतस्य त्रीण्यवान्तरसूत्राणि सन्ति। एभिस्त्रिभिरेवेदं स्वकीयं पूर्णं रूपं लभते।

पूर्वमस्माभिः सङ्केतितं यत्सूर्यरूपस्याग्नेश्चन्द्ररूपस्य सोमस्य च यागात्मकसंयोगेन सांवत्सरो यज्ञः सम्पद्यते। एतावता सौरसंवत्सरयज्ञेन सह चन्द्रमसोऽपि नित्यसम्बन्धः स्वतः सिध्यति। अतो यथा पृथ्व्याः परिक्रमणवृत्तं क्रान्तिवृत्तं कथ्यते तथा चन्द्रमसः परिभ्रमणवृत्तं 'दक्षवृत्तम्' इत्यभिख्यया विख्यातं भवति। असौ

चन्द्रो यस्मिन् नाक्षत्रिके संवत्सरमण्डले परिभ्रमति तत्रत्येषु नाक्षत्रिकमार्गेषु त्रयोऽप्येऽवान्तरमार्गा मन्यन्ते–ऐरावतमार्गो, जरद्गवमार्गो वैश्वानरमार्गश्च। अतो यथोत्तर-दक्षिण-विषुवृत्तक्रमानुसारं यज्ञोपवीतं त्रिपर्वकं भवति तथा नाक्षत्रिकमार्गस्यापि त्रैविध्येनेद त्रिपर्वरूपतां कलयति।

एषु त्रिषु प्राधानिकेषु नाक्षत्रिकेषु मार्गेषु प्रतिमार्गं पुनस्तिस्रो वीथयो भवन्ति। तयोत्तराकाशस्थिते ऐरावतमार्गे नागवीथिः, गजवीथिः, ऐरावतवीथिश्चेति तिस्रो वीथयः, मध्याकाशस्थिते जरद्गवमार्गे च आर्षभीवीथिः, गोवीथिः, जरद्गवी वीथिरिति तिस्रो वीथयः, अथ वैश्वानरे मार्गे तु अजवीथिः, मार्गीवीथिः, वैश्वानरी वीथिश्चेति तिस्रः एव वीथयो भवन्ति। एवं त्रिषु मार्गेषु इमा नव वीथयः सन्ति। पुनरिमा नव वीथयस्त्रिधा विभक्ताः सत्यो नाक्षत्रिकाणि सप्तविंशतिस्वरूपाणि प्राप्नुवन्ति। वायुपुराणे वैशद्येन प्रकरणमिदं विवेचितमस्ति।

प्राकृतिके सावत्सरिके यज्ञपुरुषे उत्तरायणस्य सम्बन्धो देवैः, दक्षिणायनस्य पितृभिर्विषुवतश्च मनुष्यैः सह सम्बन्धो वर्तते। अस्माकं शरीरे मेरुदण्डो विषुवद्वत्स्थानीयोऽस्ति। एतद्दक्षिणभागो दक्षिणगोल, उत्तरस्य भागोऽप्युत्तरगोलो मेरुदण्डश्च विषुवद् वर्तते। इदमस्माकं यज्ञोपवीतन्तु क्रान्तिवृत्तः अस्य यज्ञोपवीतस्य त्रीणि सूत्राणि ऐरावत-जरद्गव-वैश्वानर-मार्गान् सूचयन्ति। त्रिष्वपि प्रतिसूत्रं ग्रथितानि त्रीणि-त्रीणि सूत्राणि पूर्वोक्तनागवीथि-गजवीथिप्रभृतिनव वीथीः प्रदर्शयन्ति। एतेषु नव सूत्रेषु निहिताश्च नव-नव तन्तवोऽश्विन्यादीनां सप्तविंशतिनक्षत्राणां स्वरूपं प्रदर्शयन्ति। एवमस्माकमिदं यज्ञो-

पवीतं सौरसंवत्सरस्याधिदैविकयज्ञस्य प्रातिनिध्यं दधत् तथ्यमिदमप्यातनुते यदस्य परिधारको द्विजन्मा अनेन छन्दसा सम्बन्धितोऽस्ति, राष्ट्रेण सह समग्रस्यापि विश्वस्य च श्रेयसे सामर्थ्यं वहति। यथा सौरसंसारसम्पन्नः, आधिदैविकः सांवत्सरिको यज्ञपुरुषः निखिलं विश्वं नियमयति तथैव नियमपूर्वकं तस्यानापन्नस्य यज्ञसूत्रस्य (ब्रह्म-सूत्रस्य) परिधाता द्विजन्मा अपि निखिलस्य विश्वस्य सञ्चालको भवितुं शक्नोतीति नात्र संशीतिलेशः।

वेद-सम्मतमायुस्तन्मानञ्च

अतिविततिमति जगति सम्प्रति को नाम सचेता आयुषोऽभिवृद्धये रक्षायै च न प्रयतते। निरवग्रहं तदिदमेवैकायतनं रसायनं सुधोपजीव्यं च शरीरस्येति। एतदर्थमेव विधाता आयुषो वेदमाविश्चकार। अथ किं तावदायुः, किञ्च वेदसम्मतं तन्मानं मानवानामित्येव किञ्चित्पर्यालोच्यते।

त्रयीमयः परमः सूर्य एव निखिलपदार्थजातस्य निःशेषप्राणिपुञ्जस्य च प्रभवः प्रतिष्ठेति प्राचां तमेषां सर्वतत्त्वविमर्शि-महर्षि-प्रवराणां समयः। नात्र कस्यचिदपि वैदिकविज्ञानविदो विपश्चितो विप्रतिपत्तिः। विश्वप्रसवितुर्भगवतः सवितुः सर्वात्मत्वं भगवती श्रुतिरपि श्रावयति—

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः)
"नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" (ऋक्)

अस्मादेव देवादविरतं सर्वाः पदार्थ-संततिपरम्पराः मेरु-महिमवतः खलु हिमवतः सरितः इव निसर्गतः स्यन्दन्ते। तत्रैतस्मिन् त्रिविधाः पदार्थाः—ज्योतिर्गौरायुश्चेति। एतद्धि त्रितयं 'मनोता' (ऐ० ब्रा० ६।१०) इति वैदिकेन नाम्नाऽभ्याख्यायते। एषु ज्योतिर्भागेन देवाः दीव्यन्ति, गोभागेन धातूपधातु-रसोपरस-विषोपविषादयः स्थितिं कल्पयन्ति, आयुर्भागेन चात्मा

प्रतिपद्यते। सोऽयमात्मा च वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयो भवति। तत्रार्थशक्तिर्वाक्, क्रियाशक्तिः प्राणः, ज्ञानशक्तिर्मनः। सूर्ये चैतासां तिसृणां शक्तीनामुपलब्ध्या त्रिविधा एव श्रुतयः श्रूयन्ते—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः (प्र० उ० १।८) इत्येषा श्रुतिः सूर्यं प्राणशक्तिघनमुपपादयति। 'वाक् पतङ्गाय धीयते' (यजु० अ० २), अयं यजुर्मन्त्रः सूर्यं वाङ्मयं निर्दिशति। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजुः ऋक् च) अनया चर्चा सूर्यस्य मनोमयत्वं प्रामाण्यमधिगच्छति। तदेतेषां वाक्प्राणमनसां समष्टिर्हि आत्मा, आत्मा ह्यायुर्लक्षणः। अत एव हि शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मनां संयोगं प्रदर्शयता चरकाचार्येण कथितम्—

> शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगो धारिजीवितम्।
> नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ इति

तदेतेन आयुपाऽऽत्मना निराकृतः प्राणी म्रियते—इत्येव राद्धान्तः शास्त्रान्तर्दर्शिनाम्।

तदिदमायुः 'सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' इति ऋक्प्रमाणमधिगच्छत् सहस्ररश्मेः सूर्यस्य बृहत्यारूढत्वात् प्रतिदिनमेकैकक्रमेण प्रतिमानवं बृहतीसहस्राक्षरमेव समेति। एतदेव समर्थितं गुरुवरैः श्रीमधुसूदनमैथिलैरपि—अहोरात्रवादे :—

> "प्रत्येकमायुर्बृहतीसहस्र—
> प्रमाणमायाति मनुष्यदेहे" इति

बृहतीयं प्रतिपादं नवाक्षरा सती चतुर्षु पादेषु षट्त्रिंशदक्षरा सम्पद्यते। तेन च षट्त्रिंशत्सहस्रदिनात्मकं मनुष्याणामायुरित्येव सामान्यं मानम्। किन्त्विदं सर्वत्र समभागेन समागच्छदपि मिथ्याहारविहारादिभिः पूर्वजनि-जनितान्तरायैश्च प्रति-

मनुष्यं न समभावेन प्रतिपद्यते। योगमार्गेण वा रसायनादि प्रयोगजातेन वा सूर्यतः समायातानामायुषां रक्षणादतोऽप्यधिकं जीवितुं शक्नोति जनः। अत एव आयुः परमायुरिति भेदाद् द्वैविध्य तदिदं भजते। हीनायुरल्पायुरित्यादयश्च भेदा आयु-र्भोगे एव सङ्ख्यायन्ते। 'शतायुर्वै पुरुषः' (श. ब्रा. १२।४) 'शतसम्वत्सरं दीर्घमायुः' (यजुः) इत्यादिश्रुतेः पूर्वनिर्दिष्टसौर-सम्बन्धाच्च मानवस्य सामान्यतः शतवर्षायुष्ट्वमेव श्रुतिसम्मतं मन्तव्य भवति। अन्यथा 'शतं जीव शरदो॰' 'शतसंवत्सरं दीर्घमायु' इत्यादि-वेदवचसामप्यसामञ्जस्यं स्यात्।

एतावानेवोक्तमायुषः समयः। किञ्च ये पूर्वजनुःसञ्चितैः पुण्यप्रचयैः, रासायनिकैः कल्पैरन्यैर्वा सुखसन्तानसाधनैः सूर्यादागतान्यायूंषि रक्षन्तः जीवनं यापयन्ति, ते इतोऽप्यधिक-मष्टाचत्वारिंशदधिकवर्षशतकं यावदायुः प्राप्नुवन्ति। इयानेव परमायुषोऽवधिः। नातोऽधिकं कश्चन सर्वेन्द्रियशाली मानवो भोगाननुभवन् जगति जीवितुं शक्तः।

तस्मादेवोक्तमायुषः समयमुल्लङ्घ्य याज्ञिकक्रियया षोडशाधिकवर्षशतं जीवित्वेऽप्यैतरेयमहीदासस्य 'स ह षोडशं वर्षशत-मजीवत्' (ऐतरेयारण्यकम्) इत्याद्याश्चर्यद्योतकश्रुत्युक्तिभिर्महती कीर्तिर्जेगीयते।

यत्तु केचन 'शताद् भूयांसि वर्षेभ्यो जीवति' 'विश्वसृजा-मयनं सहस्रसंवत्सरम्' इत्यादिश्रुतिभिरसङ्ख्यवर्षमितं सहस्रवर्ष-मितं वा मानवजीवनावधिं निश्चिन्वन्ति, अपि च 'शतायुर्वै पुरुषः' (ऐत॰ ब्रा॰) इत्यादिब्राह्मणवाक्यानि संस्मरन्तो धीमन्तो युग-धर्मानुकूलं कालं कलयन्ति, कल्पपरत्वं वा साधयन्ति, तत्र न

चारधारेयमाद्या निरवद्या विद्यते। यतो हि शताद्भूयांसी-
ाद्यक्षरैर्नासङ्ख्यातपदलाभो भवति, नापि च वेदसंहितासु
दब्राह्मणेषु वा तादृग्विधस्तदर्थः समुपलभ्यते। प्रत्युत 'को हि
नुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण तं समाप्नुयात्'इत्यादिवाक्यैस्तत्प्रति-
ाद एव दृष्टिपथं समेति। नापि चापरा विचारसरणिः सत्यपक्ष-
ामवगाहते। पूर्वमीमांसादर्शने सहस्रसंवत्सरशब्दस्य सहस्रदिन-
रत्वाधिकरणे—'सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु' (मी.सू.
।७।३१) इत्यादिसूत्रैस्तत्खण्डनं विदधता भगवता जैमिनिना
हस्राद्विशब्दानामन्यथैवार्थनिदर्शनात्। 'अहानि वाभिसङ्ख्या-
ात्' इत्यादिसूत्रैस्तत्रैवायुषः स्पष्टीकरणाच्च। एवं वेदेष्वपि
हस्र-संवत्सरशब्दयोरन्यदेवार्थदर्शनं वोभवीति। तथा हि—
गे वै मासः॥ संवत्सरः' 'द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा.' 'पूर्णं
सहस्रम्' इत्याद्या. श्रुतयः प्रमाणम्। अथ नाप्यपरा विचा-
परम्परा समुचिता युगानां प्रतिक्षणं प्रतिदिनं प्रतिमनुष्यं च
ावस्थारूपत्वात्। यथा चास्मादि स्मृतिकारैः—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ इति

यच्चायुर्वेदे आयुःप्रमाणं तदपि समालोच्यमानं वैदिक-
वेचारानुरूपमेव, ओषधीनां फलश्रुतौ च यल्लिखितं तदपि न
द्विरुद्धम्। अतः श्रुतिविरोधान्मीमांसाशास्त्राननुकूलत्वाल्लोक-
वरोधाद्युक्तिविरोधाच्च—

"अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥"

इत्यादिस्मृतिवाक्यानां गूढाशयस्त्वन्य एव प्रतीयते। एवं
हि यत्र वसिष्ठ-विश्वामित्रादीनां महर्षीणां सहस्राधिकवर्षाणि

तपश्चारित्वं वर्णितं वर्त्तते तत्र सर्वत्र विश्वसृजामयनन्यायेन संवत्सरशब्दस्याहःपरत्वमर्थग्रहणं करणीयम्। तेन च 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परमं तपः' इत्यस्य षष्ट्यधिकानि त्रीणि दिनसहस्राणीत्यर्थलाभादष्टौ वर्षाणि षण्मासाश्च तपश्चरणसमयः सम्पद्यते। एवमेव मीमांसाशास्त्रानुसारं—

> "दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
> रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥"

इत्यादिकवेः प्रसिद्धं श्लोकमुपजीव्य भगवतो रामभद्रस्य कृते आयुषो विमर्शेऽभिषेकानन्तरं तस्य त्रिंशद्वर्षाणि, षण्मासाः, विंशतिदिनान्येव राज्यभोगसमयः समुपलभ्यते। यतः एकादशसहस्रवर्षशब्देनैकादशसहस्रदिनानि गृहीतानि भवन्ति। एकैकस्मिन् वर्षे च षट्षष्ट्युत्तराणि शतत्रयदिनानि भवन्तीत्येभिर्दिवसैः कृते विभाजने त्रिंशद्वर्षाणि, षण्मासाः, विंशतिदिनान्येव प्रतिपद्यन्ते। अभिषेकात्पूर्वं च रामभद्रस्यैकत्रिंशद्वर्षाण्यायुषो व्यतीतान्यासन्। यतो हि षोडशे वर्षे रामचन्द्रो मिथिलापुर्यां धनुर्भङ्गं विधाय सीतामुवाह, ततो वर्षमेकं ससुखमयोध्यामध्युवास। तदनन्तरं चतुर्दशाब्दपर्यन्तं वनवासोऽनुभूतस्तेन। एवममुष्यैकत्रिंशद्वर्षाणां जीवनस्य पूर्वो भागः। पूर्वोक्तश्च जीवनस्योत्तरो भागः। एवं सम्मिल्य एकषष्टिवर्षाणि, षण्मासाः, विंशतिदिनानि चैतावत्येव रामचन्द्रस्य भूलोकावस्थितिः सिध्यति।

वेदेषु वर्ण-विभागः

इह खल्वनादिसिद्धे संसारे सममेव मानवजात्या वर्णचतुष्टयी समवततारेति सार्वदिकः सार्वत्रिकश्च व्यवहारः शास्त्रविदाम्। यतो वेदादिशास्त्रेषु प्रायः सर्वत्रास्या उपलब्धिर्भवति। विश्वसाहित्ये प्राप्तप्राथम्यस्य ऋग्वेदस्य पुरुषसूक्तमपि यदि सर्वेष्वेव वेदसंहिताग्रन्थेषु स्वल्पपरिवर्तनेन पठ्यते तदपि चतुर्णां वर्णानामस्तित्वं प्रकटयति। यथाहि—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत ॥' इति

अस्यामृचि विराजः पुरुषस्य मुखबाहूरुपादेभ्यश्चतुर्भ्योऽङ्गेभ्यः क्रमशश्चतुर्णां ब्राह्मणादिवर्णानां सृष्टिरुपलभ्यते। 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' अन्तिमेऽत्र चरणे पञ्चम्यन्तपदेन 'अजायत' इति क्रियापदेन च लोकसृष्टेरारम्भ एव विराजः परमेश्वरस्याङ्गेभ्यो वर्णोत्पत्तिविषये न स्वल्पतमोऽपि संशीतिलेशोऽवतिष्ठते, प्रमाणमत्र वैयाकरणाः।

वैदिकमन्त्राणामर्थनिर्णयस्तत्तद्वेदानां ब्राह्मणारण्यकश्रौतसूत्राद्याधारतः क्रियमाण एव प्रामाण्यमुपगच्छति। इतिहासपुराणग्रन्था अपि कर्मण्यस्मिन् साहाय्यमाचरन्ति। सम्बन्धेऽत्राभियुक्तानां कथनमिदं सविशेषं माननीयं विद्यते—

'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥" इति

आत्मबुद्धिबलात् केवलं व्याकरणानुसारं पद-पदार्थमात्रवेदिभ्योऽल्पज्ञेभ्यो लोकेभ्यस्तु स्वयं वेदोऽपि बिभेति, यतः शङ्कते वेदो यत्तेऽर्थस्यानर्थं तनिष्यन्तीति । एतत्परम्परानुसारमुपर्युक्तवेदमन्त्रस्यार्थावबोधाय गृहीते ब्राह्मणग्रन्थानामाधारे ऋग्वेदस्यैतरेयब्राह्मणे पुरुषसूक्तस्य मन्त्राणां सुन्दरं सामञ्जस्यं लभ्यते । एवमेव यजुषां शतपथे ब्राह्मणेऽपि 'अस्माद्वै मुख्यात्-स्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त' इत्यादिभिर्वाक्यैर्ब्राह्मणादिसृष्टिप्रतिपादकमन्त्रार्थस्य स्पष्टीकरणं जायते । किमन्यत्, शुक्लयजुर्वेदस्यां बृहदारण्यकोपनिषद्यपि सृष्टेरारम्भे ब्राह्मणादिवर्णानामस्तित्वं महत्त्वञ्चोपलभ्यते । यथा हि—'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सन्नव्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं, तस्मात् परमास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये, क्षत्र एव तद्यशो दधाति । सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्, य उ एनं हिनस्ति स्वां स योनिमृच्छति । स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा' इति । अस्यौपनिषत्कस्य मन्त्रस्य स्वारस्यादिदमपि ज्ञातं भवति यद्देवसृष्टावपि वर्णव्यवस्था वर्तते । यतः सम्पूर्णेऽस्मिन् मन्त्रे इन्द्र-यम-वरुण-सोम-प्रभृतिदेवाः क्षत्रियवर्णा आम्नाताः, विश्वेदेवा मरुद्गणाश्च वैश्या अभिहिताः, ततोऽग्रे पूषा देवः शूद्रजातीयोऽकथ्यत, अग्निदेवश्च पुनर्ब्राह्मणवर्णः स्वीक्रियत । एतेन सिध्यति यदिदं वर्णविभाजनं तदस्तित्वञ्च न केवलं मानवजातावेवापितु देवजातावपि तद्विद्यमानं विद्यते । इतिहास-पुराण-स्मृतिप्रभृतिशास्त्रानुसारन्तु पशु-पक्षि-कीट-पतङ्ग-वृक्षादिस्थावरयोनिष्वपि वर्णचतुष्टयस्योपलब्धिर्भवति । तत्र हि पशुषु धेन्वादयो यज्ञकर्मोपयोगिनः

पशवो ब्राह्मणवर्णाः, सिंह-व्याघ्र-हय-कुञ्जरादयो युद्धोपयोगिनः क्षत्रियवर्णाः, वृषभादयो व्यापारोपयोगिनो वैश्यवर्णाः, गर्दभ-कुक्कुरप्रभृतयः सेवाकार्योपयोगिनः पशवश्च शूद्रवर्गे समाविष्टा गम्यन्ते । एवमेव पक्षिसमाजे गरुडादयः पक्षिणो ब्राह्मण-जातीयाः, हंस-कारण्डवादयः क्षत्रियजातीयाः, शुक-कपोतादयो वैश्यजातीयाः काकादयश्च पक्षिणः शूद्रजातीया अवधेयाः। वृक्षवर्गेऽपि वट-पिप्पलादयः पूज्यवृक्षा ब्राह्मणाः, ताल-तमाल-हिन्ताल-साल-प्रभृतयः सुदृढास्तरवः क्षत्रियाः, आम्र-जम्बु-निम्बुप्रभृतयो व्यापारोपयोगिनः पादपा वैश्याः, करीर-बदरि-कादयः क्षुद्रवृक्षाश्च शूद्रजातीया भवन्ति। किमन्यत्कृमि-कीट-पत-ङ्गादिसरीसृपसमाजेऽपि यथायोग्यं तेषां ब्राह्मणादिवर्णनिर्देशो यथास्थानं समुपलब्धो भवति ।

अनेन विवेचनेन तदिदं प्रमाणितं जायते यद् ब्राह्मणादि-वर्णव्यवस्था केवलं कल्पनावलम्बिता, कर्माश्रिता मानवतन्त्र-विभागीया वा न वर्त्तते, अपितु सेयं व्यवस्था वैज्ञानिकी, अनादिसिद्धा, ईश्वरीया च वरीवर्त्ति । गीताचार्यो भगवान् श्रीकृष्णस्तमिममेवाभिप्रायं वावदीति—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥(गीता) इति

यद्यपि कतिचन वर्त्तमानदीक्षिता नवशिक्षिता लोकाः पद्यस्यास्य 'गुणकर्मविभागशः' इत्यनेनांशेन भ्रमावर्त्ते निपत्य गुणकर्मानुसारं वर्णनिर्णयपक्षे स्वनियोगं वितन्वन्तोऽभिनवाध्य-यनविधेरामनस्चारितार्थ्यं मन्यन्ते, वैदिकीं परम्परामन्यथा-यितुं चेष्टन्ते, किन्तु गुणकर्मानुसारमेवं वर्णविभाजने स्वीकृते तु

'मया' तथा 'सृष्टम्' इत्युभयोः पदयोर्वैयर्थ्यापत्तिः शिरसि समापतति, यत एतदर्थः स्पष्ट प्रतीयते यच्चातुर्वर्ण्यस्य स्रष्टा भगवानस्तीति तथा 'तस्य कर्त्तारमपि माम्' इत्यंशोऽपि मुक्तकण्ठं समुद्घोषयति यच्चतुर्णां वर्णानां कर्त्ता अपि स्वयं भगवान् वर्त्तते इति । वस्तुतः श्लोकस्यास्य स्वारस्यमेतदेव यदयमीश्वरः पूर्वजनुर्जनित-गुण-कर्मानुसारमस्मिमे जन्मनि प्राणिनं तत्तद्वर्ण-समाजे समुत्पादयामास । यतः पुरुषसूक्तस्य श्रुतेरर्थस्यास्य च समर्थनं मनुस्मृतावपि लभामहे—

> लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः
> ब्राह्मणं क्षत्रियं शूद्रं वैश्यं च निरवर्णयत्॥ (मनु.)

यद्यप्येवं गुणकर्मणां वर्णचतुष्टयस्य ज्ञातेर्वोपलब्धौ काप्युपयोगिता हेतुता वावश्यं वर्त्तते किन्तु नैवास्य जन्मनो गुणकर्मभिरस्य सम्बन्धः, अपितु पूर्वजनुःसञ्चितगुणकर्मफल-मेवात्राभिप्रेतं विद्यते ।

वेदे यदि गुणैः कर्मभिर्वा वर्णव्यवस्थाऽभविष्यत्तर्हि "आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् (यजुः २२।२२) इत्यादिमन्त्रोदिता ब्रह्मप्रार्थना व्यर्थाऽभविष्यत् । यतो ब्रह्मवर्चोरूपेण गुणेन कर्मणा वा तु लब्धजनुर्जनो ब्राह्मणवर्णो जातः, शौर्यादिगुणकर्मभिश्च पुरुषः क्षत्रियो जातस्तत्रर्थं पुनर्ब्राह्मणस्य कृते ब्रह्मवर्चसः प्रार्थना क्षत्रियस्य कृते च शूरत्वादिप्रार्थना ? अतो वेदे जन्मनैव ब्राह्मणादिव्यवस्था, न पुनर्गुणेन कर्मणा च ।

एवमेवाथर्वसंहितायाः "तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति"(१३।३।१)मन्त्रेऽत्र ब्राह्मणस्य विशेषणप

त्वमिति विद्यते । वैदुष्येणैव ब्राह्मणवर्णता यद्यभविष्यत्तर्हि ऽस्मिन् ब्राह्मणस्य विद्वद्विशेषणं नारक्षिष्यत् । अतो ब्राह्मण-विद्वद्विशेषणप्रयोगादपि वेदे जन्मना जातिः सिध्यति ।

एवं सत्यपि कतिचन दुराग्रहावर्त्तवर्त्तिनो मनीषिणो मानाभिनववात्याग्रस्ताः पुरोलिखितं पद्यमिदं समुपस्थाप्यानः पक्षं सगर्वं तितानिषन्तस्तथा—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
वेदपाठी भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥ इति

पद्यमिदमुच्चैरुच्चारयन्तस्ते सङ्केतयन्ति यज्जन्मना तु सर्वे एव मानवाः शूद्रा भवन्ति । पुनस्तदनन्तर ते गुणकर्मानुसारिणां संस्काराणां प्रभावाद् ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः, वैश्या वा भण्यन्ते । किन्तु हन्त हन्त, श्लोकोऽयं न कस्मिंश्चिदपि प्रामाणिके ग्रन्थे समुपलभ्यते, न जाने कथमयं स्मृतिशास्त्रप्रमाणकोटावगण्यत लोके । प्रत्युत प्रामाणिकेषु धर्मशास्त्रग्रन्थेषु संस्कारभास्करादिषु तथा अत्रिस्मृतावप्युपर्युक्तपद्यस्य सर्वथा विपरीतमर्थं प्रकटयन्नयं श्लोकः पठ्यते—

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रस्त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते" इति

एतेन स्पष्टं सिध्यति यद् ब्राह्मणादिवर्णोत्पत्तिर्जन्मत एव भवति, परं तत्र वैशिष्ट्यं गुण-कर्म-संस्कारैः सञ्जायते ।

यद्यपि गुणकर्मानुसारं जातेराभासदायिनोऽनेकेऽन्येऽपि श्लोकाः संस्कृतसाहित्यस्य विभिन्नेषु पुस्तकेषु प्राप्यन्ते । यथेदमप्येकं पद्यं विद्यते—

परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे ।
अदत्तं नैव गृह्णीयादेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥ इति

अत्र परान्नग्रहण-त्यागादिगुणकर्मसंस्कारो ब्राह्मणलक्षणत्वेन निर्दिष्टः, अत एव साधारणधारणा जना भ्रमित्वा समुचितान्मार्गात् प्रविचलन्ति । किन्तु तेषां भ्रमकारणं केवल पूर्वमीमांसाशास्त्र-प्रतिपादितस्य स्तुतिनिन्दार्थवादस्य व्यवस्थानभिज्ञतामात्रम् । वस्तुत ईदृशाः श्लोका ब्राह्मणादीनां गुणकर्मादीनां प्रशंसका अर्थवादमात्रपरायणा एव । यथोपरिनिर्दिष्टे श्लोके प्रतिपादितमस्ति यन्मार्गे कस्यचन भवने वा पतितस्य द्रव्यस्यान्नस्य च दानमन्तरेण अदत्तग्रहणं ब्राह्मणलक्षणं विद्यते। यदि श्लोकानुसारमेनादृशं ब्राह्मणलक्षणं स्वीकुर्मः किं तर्हि क्षत्रिय-वैश्यादयो येषां हि श्लोके नामग्रहणं नास्ति ते परद्रव्यादिवस्तुजातं चोरयितुं स्वतन्त्राः ? परं नहि नहि, न कदापि कथमप्येवं कथयितुं शक्यते केनापि । एतादृशानां श्लोकानां भावस्तु केवलं ब्राह्मणोचित-गुणकर्मादिप्रशंसायामेव पर्यवस्यति। सहैवेदृशैः श्लोकैरियमपि शिक्षोपलब्धिर्भवति यद् ब्राह्मणादयो वर्णास्तेषां तानि तानि शास्त्रनिर्दिष्टानि कर्माण्यवश्यमाचरेयुर्येन तेषां वैशिष्ट्यं महत्त्वञ्चाक्षुण्णं तिष्ठेत्, अतस्तत्स्वरूपाच्च ते न प्रच्युताः स्युः । एवंविधे व्यतिकरे श्लोकानामीदृशानां नायमर्थः कदापि यद् ब्राह्मणोचितगुण-कर्मशील एव ब्राह्मणो भवति, न पुनर्ब्राह्मणजातौ समुत्पन्नः प्राणी ब्राह्मणाभिधेयो भवतीति । इदन्त्ववश्यमस्ति यत् स्व-स्ववर्णानुसारं कर्मादिकमनाचरन्तस्तद्वन्तः पतिता भ्रष्टाश्च जायन्त एव । यथा खलु गावः क्षीर-विवर्जिता अपि न गोत्वपरित्यक्ता जायन्ते, गाव एव तिष्ठन्ति, न वा कुक्कुर्यो गर्दभ्यश्च भवन्ति । एवमेव गलितान्यप्याम्रादीनि फलानि यव-गोधूमाद्यन्नानि वा न स्वफलादिजातिहीनानि

जायन्ते, तानि तु फलकोटौ वाम्रकोटावेव परिगण्यन्ते । तथैव वर्णानुसारं कर्मादिकमनाचरन्तो ब्राह्मणादयो वर्णाः पतिता भ्रष्ट श्चावश्यं कथयिष्यन्ते किन्तु ते स्थास्यन्ति स्वजातावेव । आत्मनो वर्णव्यवस्थानुकूलं कर्मसम्पादनमकुर्वाणाः प्राणिनो भाविनि जन्मनि कस्याश्चिदन्यजात्यामवश्य जन्म लब्धुं शक्नुवन्ति परन्तु श्रेष्ठकर्मकारिणः प्राणिनः खलु जन्मान्तरेऽप्युच्चवर्णमेव लभन्ते । बृहदारण्यकोपनिषदि छान्दोग्योपनिषदि चापि सोऽयं प्रसङ्गः प्राप्यते । यथा—तद् य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो-ह्यत् ते रमणीयां योनिमापद्येरन्, ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा, तद् य इह कपूयाचरणा अभ्याशोहयरो कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा" इति । भगवत्याः श्रुतेर्वचनादस्मात् सर्वथा स्पष्टं भवति यद् गुणकर्मद्वारा अन्यस्मिन्नेव भाविनि जन्मनि वर्ण-जाति-परिवर्त्तनं भवितुं शक्नोति न पुनस्तस्मिन्नेव जन्मनि, विश्वामित्रोदाहृतिस्त्वपवादरूपैव ।

अथर्ववेदे (१६।३२।८)ऽपि ब्राह्मणादिवर्णानां स्पष्टमुल्लेखो लभ्यते । यथा—

"प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥ इति

एवमेवाष्टादशेऽपि काण्डे सोऽयं मन्त्रो वेदेषु वर्णविभागं पुष्णाति—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यतः उत शूद्र उतार्ये ॥ (१८।१।८।१)

एतदतिरिक्तं यजुःसंहितायास्त्रिंशेऽध्यायेऽप्यासन्नाष्टाचत्वारिंशद्ब्राह्मणादिजातीनां तत्कार्याणाञ्च 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय

राजन्यं०' इत्यादिना वर्णनं प्राप्यते तेनापि विश्वसर्गादावीश्वर संभृष्टस्य वर्णसमाजस्योपलब्धिर्भवति । एषु मन्त्रेषु तु नट-नर्तक रजक-कुम्भकार-स्वर्णकारादीनामपि वर्णनं लभामहे । तत्र तु जातीनां नामाभिः सहैव तत्तज्जातीयानां मानवानां कार्योल्लेखं ऽप्युपलभ्यते । येनेदमपि ज्ञायते यद् भगवता परमेश्वरेण जाति विभाजनं विधाय तदुचितकार्यविभाजनमप्यक्रियतेति ।

अनया जन्ममूलकवर्णव्यवस्थया प्राचीनेऽस्नेहसि ज्ञान नसम्पन्ना ब्राह्मणाः, अस्त्रशस्त्र-बाहुबलादिसम्पन्नाः क्षत्रिया धनधान्यसम्पन्ना वैश्याः,सेवाधर्मसम्पन्नाश्च शूद्राः स्वे स्वे कर्मणि निष्णाताः राष्ट्राभ्युदयेऽविरतं निरता अवर्तन्त । अत एव तदानी भारतदेशोऽयमात्मनो 'विश्वगुरु' इत्युपाधेः सार्थकतां वितन्वान आसीदित्यलम् ।

वेदेषु ब्राह्मणस्तस्य महत्त्वञ्च

नात्र स्वल्पतमोऽपि संशयलेशो यद्विश्वसृष्टेरारम्भिके
[स]मय एव भगवता परमेश्वरेण प्राणिषु ब्राह्मणादयो वर्णाः
[स]म्पादिताः। विराट्पुरुषस्य मुख-बाहूरु-पादेभ्यः क्रमशो ब्राह्मण-
[क्ष]त्रिय-वैश्य-शूद्रा अजायन्त। यथा च श्रूयते वैदिके पुरुषसूक्ते—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ इति

एवं ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः, वैश्याः शूद्राश्चैते चत्वारो वर्णाः
[प्र]चलिताः। त एते चत्वारो वर्णा न केवलं मानवसमाज एव,
[अ]पितु वेदप्रमाणानुसारं देवेषु पशु-पक्षि-कीटपतङ्गादिसमाजे-
[ष्व]पि प्राप्यन्ते। भगवान् परमेष्ठी विश्वस्य सुव्यवस्थां स्थापयितुं
[श्रे]योऽधिगन्तुं च तांस्तान् वर्णान् स्व-स्वकर्मस्वपि नियुक्तवान्।
[ये]न, जनुर्ग्रहणेन साकमेव तत्तद्वर्णेषु स्वकर्मनिर्वाहस्योत्तरदायित्व-
[म]पि समाजगाम। वैदिकेषु ग्रन्थेषु तदुपोद्बलितेषु पुराणेतिहास-
स्मृतिशास्त्रादिषु च वर्णानाममीषां पृथक्-पृथक् कर्मणां निर्देशः
समुपलभ्यते।

चतुर्षु वर्णेष्वेतेषु भगवतो मुखाज्जन्मलाभाद् ब्राह्मण
[ए]व सर्वानतिशेते। भगवान् वेदस्तु ब्राह्मणं सर्वदेवमयं निर्दिद-
[ि]शेति। यथाहि—"यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे

वसन्ति", 'एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः' (तै. सं. ३।७।३) "ब्राह्मणो वै सर्वा देवताः" (तै. ब्रा. १।१।४) इति च। किमन्यद् भगवती श्रुतिः 'अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः'(षड्विंश ब्रा. १।१) "असौ खलु वा वैष आदित्यो यद् ब्राह्मणः" (तैत्तिरीयारण्यके २।१३।१), "आग्नेयो हि ब्राह्मणः" (काठ. सं. २९।१०,३७।२), "अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्" (श ब्रा. ३।८।१।१४) इत्याद्युक्तिस्तु ब्राह्मणं मनुष्यदेव निर्दिशति, तमादित्य कथयति, आग्नेयत्व समुद्घोष्य तमग्रगण्य मम्मनोति, सर्वस्य च मुखत्वेन तं निरूप्य तस्य प्रमुखता निर्धारयति। कृष्णयजुर्वेदस्य मैत्रायणीसंहितायां स्पष्ट समुट्टङ्कित वर्तते यत् पञ्चदेवमयोऽयं ब्राह्मणो विद्यते, अत एव च स सर्वत्र समाजे प्रतिष्ठा लभते यथा—"पञ्च वै ब्राह्मणस्य देवताः—अग्निः सोमः बृहस्पतिः सरस्वती, तस्माद् ब्राह्मणमन्वे मनुष्या उपधावन्त्येतस्य हि भूयिष्ठा देवताः।" (मै० सं० ४।५।८) इति। अत एव पूर्वं ब्राह्मणानां प्रभावेण निखिलं विश्वं प्रभावितमवर्तत। देवताः, दानवाः, यक्षाः, राक्षसाः, राजानो महाराजाश्च सर्वे ब्रह्मतेजसः संमुखे नतमस्तका आसन्। मुनिवरदधीचेर्महर्षेर्विश्वाणनकारण्येनैव सुरपतिरिन्द्रो वृत्रासुरमारणे साफल्यमलभत। दैत्यवंशावतंसस्य बलिमहाराजस्य राज्यमाचार्यशुक्रस्य नीतौव निधृतमासीत्। परशुरामस्य पुरुषप्रतापप्राबल्येन विराजः सम्राजः कम्पन्तेस्म। गुरुवर—वसिष्ठस्यैवानुकम्पया राजा दशरथो रामसदृशं सुतं प्राप्तवान्। पूर्णावतारो भगवान् श्रीकृष्णोऽपि ब्राह्मणानामाज्ञापालने आत्मानं धन्यं मन्यतेस्म। कौटिल्यार्थशास्त्रस्य प्रणेतुराचार्यचाणक्यस्य नीत्यैं स्वद्यापि महान्तो महान्तो राजनीतिविदो मेधाविनोऽनूयन्ति। बौद्धकाले विलुप्तप्रायं वेदसम्प्रदायं संरक्षितुं ब्राह्मणवंशावतंसः श्रीशङ्कर एव प्राभवत्। किञ्च, सत्सम्प्रदायप्रवर्तका वल्लभ-माध्व-प्रभृतय

आचार्यचरणाश्चापि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इतिश्रुतेः प्रतीकभूता आसन्। ईदृग्विधा एव ब्रह्मवर्चस्विनो वेदविदो ब्राह्मणाः समुच्छृङ्खले सञ्जाते शासकवर्गे लोकमर्यादां संरक्षितुं राज्यशासनमपि च हस्तयितुं प्रभवन्ति। यथोक्तं मनुना—

> सेनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च।
> सर्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति ॥(मनुः)इति

यावद्धि क्षत्रियः शासको ब्राह्मणं नानुचरति, न तावत्स श्रेयोऽश्नुते। अनयोः सहयोगेनैव राष्ट्राभ्युन्नतिरपि सुस्थिरा भवति। कथयति शातपथी श्रुतिरपि—"यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्याद् यद्यु राजानं लभेत समृद्धं तत्, एतद्ध त्ववाक्लृप्तं यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति, यद्धि किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्राह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेन उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः।" (श. ब्रा.) इति।

ब्राह्मणवर्णोऽयं समाजरूपिणमात्मानमाधिदैविकोभ्योविपद्भ्यो रक्षति चर्मस्थानीयाऽङ्गरक्षकः सन्निति देवभाषायां 'शर्मा' इत्यभिधीयते। यथोक्तं याज्ञवल्क्येन—'चर्मेति मानुषं शर्म देवत्रा' (शत०ब्रा० १।१।४।४) इति। क्षत्रियो हि राष्ट्रस्याधिभौतिकीविपदो निवारयति वर्मस्थानीयो भूत्वेति स 'वर्मा' इति प्रोच्यते। इमौ ब्राह्मण-क्षत्रियौ रक्षकौ स्तः। आभ्यां या हि गुप्ता=रक्षितास्तिष्ठन्ति ता विशो 'गुप्ताः' इति प्रसिद्धिं प्राप्ताः। ब्राह्मणानां विपुलं सामर्थ्यं, निस्तुलं तेजो निरुपमं वीर्यं सर्वातिशायि चारित्र्यं निखिलशास्त्रावगाहि वैदुष्यं च विलोक्यैव मानवशास्त्रप्रवर्त्तको महाराजो मनुः पार्थिवान् सर्वान् मानवान् ब्राह्मणेभ्यः स्व स्वमाचरणमध्येतुमादिदेश। यथाहि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनुस्मृ.)

अतो नैवात्राणीयानपि शङ्कालवः कर्तुं शक्यते । रत्वप्रत्वं ब्राह्मणाः सृष्टेरारम्भकालादेव सर्वमूर्धन्या विश्व-न्याश्चावर्त्तिषतेति ।

ब्राह्मणवर्णस्य कर्माणि समवर्ण्यन्ताभियुक्तैः—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
(गीता. १८।४२)

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(मनुस्मृ. १।८८) इति

ब्राह्मणाः सत्त्वप्रधाना भवन्तीति तेषां कृतेऽध्ययनाध्यापनादीनां सात्त्विकानां षट्कर्मणां विधानमभिहितमार्यधर्मनियामकेन मनुना । एतेष्वेव षट्सु कर्मसु गीताप्रतिपादितानि शमादीनि गुणकर्माण्यपि समाविशन्ति ।

वस्तुत एतेषां गुणानां समावेशादेव ब्राह्मणकुलस्य लोकमर्यादासंरक्षणे महदुत्तरदायित्वं वरीवर्ति । अत एव हि चतुर्णां वर्णानामस्य समुच्चं स्थानं विद्यते । ब्राह्मणवर्णेऽस्य स्वकर्मनिष्ठे सञ्जाते तदनुगामिनोऽन्ये वर्णा अपि सहजमेव स्व-स्वकर्मसु व्यापृता जायन्ते । यदि कोऽपि वर्गः स्वल्पमपि मर्यादाभङ्गं वितनोति तदा षट्कर्मनिष्ठो ब्राह्मण आत्मनः शापानुग्रहस्वरूपेण निग्रहानुग्रहसामर्थ्येन तत्कालमेव तं कर्मणि नियोजयति । अत एवाभियुक्तैर्ब्राह्मणानां जन्म धर्मसंरक्षणार्थमेव समवर्ण्यत—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ इति

समुद्घोषयन्ति शास्त्राणि यत्पूर्वजन्मनामनल्पपुण्यप्रभावादेव प्राणी मानवयोनौ ब्राह्मणकुले जनुर्गृह्णाति । एवं यदि स ब्राह्मणवर्णे जन्म लब्ध्वापि जनवञ्चनकर्मसु वाह्याडम्बरबहुलेषु व्यवहारेषु च स्वजीवनं यापयति तर्हि निश्चयेन स कर्मभ्रष्टो जायते । ब्राह्मणस्य शरीरमिदं क्षुद्रकर्म कर्तुमस्त्येव न । स तु निःशेषमुत्तरदायित्वं बिभर्ति । स्वयं मनुमहाराजः कथयति—

'ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तफलाय च ॥' इति

अस्माकं द्विजबन्धुभिर्ब्राह्मणत्वरक्षायै सर्वप्रथमं षोडशसंस्काराणां शास्त्रोक्तविधिपूर्वकं सम्पादनमवश्यं करणीयम् । एभिरस्माकं स्थूलशरीरे सूक्ष्मशरीरे च कोऽप्यपूर्वः प्रभावः समुद्भवति । अत एव 'संस्क्रियते अनेन श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा आत्मेति संस्कारः' इत्यभिधीयते । स्थूलशरीरे सम्पादितस्य संस्कारस्वरूपक्रियाकलापस्य प्रतिक्रिया सूक्ष्मशरीरे अन्तःकरणे भवत्येव। संस्कारैरेव च तैरस्माकं शरीरं ब्रह्मतेजो लभते । यथा चोच्यते—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म-चौड-मौञ्जनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ इति

एभिः खलु संस्कारैर्वैजिकं गार्भिकञ्चापि पापं विहाय समुत्पादकं नश्यति । किन्तु हन्त हन्त ! साम्प्रतं संस्कारविदे स्त्वपलाप एव सञ्जातः । पित्रोः कुटुम्बिनां च मनोविनोदार्थं यत्र तत्र यज्ञोपवीत-विवाहसंस्कारयोर्विकृत रूपमवश्यं वीक्षितुं प्राप्यते । नववध्वाः खलु दोहदपूर्त्यै बहवो लोकाः सीमन्त-संस्कारनाम्नाऽपि मनोविनोदमाचरन्ति।पूर्वं यो हि द्विजवटुर्यज्ञो-पवीतसंस्कारेण संस्कृत षोडशवर्षाणि गुरुकुले उषित्वा ब्रह्मचर्य-व्रतं धारयन् ब्रह्मतेजो विचिनोतिस्म स एवाद्योपनयनाभिनयेन सहैव विवाहयोग्योऽपि सम्पाद्यते । किमन्यत्, साम्प्रतन्तु बहवो बन्धवो विवाहावसरे द्वयोः कुलयोरार्षेयगोत्र-प्रवरादिनियमपालन-मपि प्रगतिवादस्य विरुद्धं कलयन्ति।अत एवाद्य प्रभृतिरक्षणस्या-भावे योनिब्राह्मण्य,संस्कारशून्यतया संस्कारब्राह्मण्यं, ब्राह्मणोचि-तानां षट्कर्मादीनामभावे च धर्मब्राह्मण्यमपि ब्राह्मणसमाजे नैव दृश्यते । धर्मसूत्रकारैर्मन्वादिस्मृतिकारैश्च ब्राह्मणत्वरक्षणार्थ-मुपर्युक्तं त्रितयमावश्यकमुपदिश्यते—

> त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
> स ब्राह्मण इति ज्ञेयस्त्रयं ब्राह्मणलक्षणम् ॥ इति

अधुना वयमात्मानं द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी,सोमयाजी, अग्निहोत्री इत्याद्यनेक वैदिकोपाधिभिः समलङ्कृत्यापि हे निर्वाहे स्वल्पमपि नैव दृष्टिगतं कुर्मः। नित्यं पश्यामो यदि कर्म सौभाग्याद्वेदमप्यपठत्तर्हि स केवलमुच्चस्वरेण मन्त्रोच्चारणं विधाय श्रद्धालुयजमानान् वणिज एव वञ्चयते, न पुनः स्वरज्ञाने तदर्थ-ज्ञाने वा प्रयतते । मिथ्याप्रयुक्तः स्वरश्च कार्यसिद्धिस्थाने यजमानमेव हिनस्ति । यथोक्तमभियुक्तैः—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वं वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अतो वेदाध्ययने स्वरज्ञानमावश्यकम् । स्वरज्ञानेन साकं
दर्थज्ञानमपि परमावश्यकं वरीवर्ति । अज्ञातार्थो वेदपाठी
क्षस्थाणुरेव हि केवलम्—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
(निरु. १।६।२) इति

तदिदं वेदार्थज्ञानन्तु संस्कृतभाषाध्ययनं विना नैव सुलभ-
मिति ब्राह्मणैः सर्वप्रथमं संस्कृताध्ययनमप्यवश्यं करणीयम् ।

एवंविधा एवोपर्युक्तगुणगणविशिष्टा ब्रह्मवर्चस्विनो
ब्राह्मणाः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथापि कर्तुं प्रभवन्ति। ईदृशानेव द्विजो-
त्तमानुद्दिश्य मनुमहाराजः कथयति—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्त्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥
सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं ब्राह्मणः सर्वमर्हति ॥ इति

एतान्याप्तवाक्यानि हृदि कृत्वा साम्प्रतिकैर्यजमानमहाशयैरपि शिक्षणीयमिदं यत्ते ब्राह्मणेभ्यो यत् किमपि वितरन्ति, दानरूपेण प्रयच्छन्ति वा, न तेन ते स्वल्पमपि गर्वं कुर्युः । मनुना स्पष्टमुपदिष्टम्:—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ इति

अर्थाद्योग्यब्राह्मणः कस्माच्चिदपि किमपि लभते, यत् किमपि यत्र भुङ्क्ते, वस्त्रादिकं वा धारयति, तत्सर्वं तस्यैव वर्तते । नैव ब्राह्मणः कस्यचन दयामवलम्ब्य जीवति, प्रत्युत ब्राह्मणकृपात एवान्ये जीवन्तीति महत् प्रमुखं स्थानं वरीवर्ति ब्राह्मणानां सर्वत्र समाजे ।

दर्शननिदर्शनम्

ननु स्वभावत एव सचेतनस्य मानवस्य मानसे समुदेति स्वतो जिज्ञासेयं यत् कोऽहं, कस्मादहं, कुत्रोऽहं, कथमिदमस्थिमांसपिण्डं शरीरमेजति कथञ्च क्षयमेतीति। समस्तशास्त्रपारावारपारीणानां विश्वचिन्ताविमुक्तचित्तभावनानां करतलामलकवत् सकलपदार्थजातं प्रत्यक्षीकुर्वाणानां दिव्येन चक्षुषा च बाह्यमान्तरञ्च जगदालोकयतां महर्षिप्रवराणां शान्तेन चेतसा आत्ममननपरिणतिभूतैवेयं दर्शनशास्त्रप्रवृत्तिः। भगवान् वेदोऽपि आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति समुपदिशति। वस्तुत आत्मसाक्षात्करणमेव मानवजन्मनः साफल्यम्। तस्यास्यात्मप्रपञ्चस्य प्रदर्शकं शास्त्रमिदं दर्शनमिति व्यपदिश्यते। तानीमानि षड् दर्शनानि जेगीयन्ते न्याय-वैशेषिक-साङ्ख्य-योग-मीमांसा-वेदान्तसंज्ञकानि।

महर्षिगौतमोपज्ञं हि न्यायदर्शनम्। इदमेव हि प्राचीनन्यायमित्याख्यामपि लभते। अत्र वेदार्थविरोधितर्काणां निरसनोपायाः श्रुतिसिद्धान्तानां समाधानोपायाश्च प्रमाणादिप्रतिपादनपूर्वकं निरूपिताः। प्रमाणप्रतिपादनादेवेदं प्रमाणशास्त्रमित्यप्यभिधीयते। अत्र प्रधानः प्रतिपाद्यविषयोऽस्ति षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षलाभः। नायं मोक्षस्तत्त्वज्ञानं विना लब्धुं शक्यते। तत्त्वज्ञानञ्च प्रमाणादीनामुद्देश-लक्षण-परीक्षाभावे न सम्भवति।

ततोऽस्य दर्शनस्य त्रिविधा प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्राभिधानमुद्देशः, उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदकोऽसाधारणो धर्मो लक्षणम्, लक्षितस्य च लक्षणं तत्र घटतेऽथवा नेति निश्चयः परीक्षा।

अथ नव्यन्यायोऽपि प्राचीनन्यायतो नातिभिन्नः। अत्र हि अनुमानमेव प्रमाणमेव वा विशेषतः परिष्कृतम्। नव्यन्याये परिष्कृतस्यापि परमपरिष्कारसम्पादनायावच्छेदकावच्छिन्नादिप्रयोगः प्राचुर्येणावलम्बितः। एतत्प्रवर्तकेषु मिथिलाया गृहीतजनुर्गङ्गेशोपाध्यायः शेखरायते।

महर्षिणा कणादेन प्रतिपादितं दर्शनं वैशेषिकं विद्यते। कणादोऽस्य कणभुक्, औलूको वाऽपि कथ्यते। अत्र हि विशेषस्य विशिष्टं विवेचन विद्यते। विशेषाभिधं विशिष्टपदार्थं स्वीकृत्येदं प्रवर्तितमिति वैशेषिकमभिधीयते। नायं विशेषपदार्थो दर्शनान्तरैः स्वीकृत इत्येवास्य वैशिष्ट्यम्। यद्वस्तत्रान्यवस्तुभ्यः पृथग् भवेत्तस्य स्वकीयं किमपि वैशिष्ट्यञ्च भवेत्तदेव वस्तु विशेषशब्देनाभिहितं दर्शनेऽत्र। यथा सत्स्वपि सङ्ख्यातीतेषु मानवेषु ते स्वैः स्ववैशिष्ट्यैर्न भिन्ना भिन्नाः सन्ति। शब्दस्य याथार्थ्यनिर्णये पाणिनीयशास्त्रमिव पदार्थस्वरूपनिर्णये परमं प्रामाण्यमुपगमिदं सर्वदर्शनोपकारकत्वात् प्रधानं पदमपि विभूषयति।

निःश्रेयसप्राप्तिरेवास्य दर्शनस्य प्रधानो विषयः। सा तत्तत्पदार्थस्य विविक्ततत्त्वज्ञानादृते न सम्भवति। ते च पदार्था भेदप्रभेदैर्बाहुल्यं लभमाना अपि प्रधानतः षडेव—द्रव्यं गुणाः कर्म, सामान्यं विशेषः, समवायश्चेति। षण्णामप्येषां द्रव्यगुणकर्माणि बाहुल्येन कार्यरूपाणि। तत एवैषां पदार्थानां साधर्म्य-

वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्मोक्षलाभः । उक्तञ्च तत्रैव "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" (वै० सू०) इति ।

इमे हि न्याय-वैशेषिकदर्शने मिथो महत् सामीप्यं विभृतः । यथा न्यायदर्शनस्यारम्भे गोतमेनोक्तं यत् षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयससिद्धिर्भवति तथा वैशेषिकदर्शनेऽपि प्राणिनो मुख्यमुद्देश्यं निःश्रेयससाधनमेव गदितं कणादेन । किन्तु न्यायदर्शनं यत्र प्रथमं तत्त्वज्ञानविषयभूतानां पदार्थानां गणनामुपस्थापयति तद्विवेचनञ्चारभते तत्र वैशेषिकं दर्शनं चतुर्थसूत्रात्पदार्थगणनामुपक्रमते । द्वयोर्दर्शनयोरयमपि भेदः प्रतीयते यद्वैशेषिकदर्शनानुसारं तु धार्मिकप्रवृत्तिस्तत्त्वज्ञानप्रेरणायां हेतुतां भजति । अत एव कणादो मुनिः प्रथमं धर्मस्वरूपमुपस्थाप्य तत्त्वज्ञानं व्याख्याति, किन्तु न्यायदर्शने गोतमः षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानादेव निःश्रेयसोपलब्धिं निर्दिशतीति ।

अथ कपिलमुनिप्रतिपादितं दर्शनं साङ्ख्यनाम्नाऽभिधीयते । उक्तञ्च—

सङ्ख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिञ्च प्रचक्षते ।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत्तेन साङ्ख्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ इति

अर्थाद् एका मूलप्रकृतिः, सप्त प्रकृतिविकृतयः, षोडश पि लं विकृतयः, प्रकृति-विकृतिभिन्नोऽनुभयस्वरूपः पुरुषश्चैकः—एवं सम्भूय पञ्चविंशतितत्त्वानि सङ्ख्यायन्ते येन तत् साङ्ख्यम् ।

अत्र दर्शने पुरुषस्य भोगार्थमपवर्गार्थञ्च प्रकृतिविकृत्यनुभवरूपेण पुरुषेण सह पञ्चविंशतितत्त्वानि आम्नातानि । तत्र

मूलप्रकृतिः केवलं प्रकृतिरेव, न सा विकृतिः । अन्यानि तत्त्वान्येवास्या जायन्ते, नेयं स्वयं कस्यचन कारणस्य कार्यरूपतामेति । इयमेव विश्वप्रपञ्चस्य मूलरूपा । अथ सप्त प्रकृतिविकृतयः— महत्तत्त्वं, अहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि प्रकृतिविकृत्युभयात्मकानि । इमानि तत्त्वानि मूलप्रकृतेर्जायन्ते । स्वयञ्चान्येषामपि तत्त्वानां कारणतां गच्छन्ति । दशेन्द्रियाणि, मनः, पञ्च महाभूतानि, षोडश केवलं विकृतिरूपाणि । अर्थादिमानि केवलं कार्यरूपाण्येव नान्येषां तत्त्वानां कारणभूतानि । पुरुषस्तु न कस्माच्चन तत्त्वादुद्भवति, न चास्मादपि किमपि जायते । पुरुषशब्देनात्मा गृह्यते ।

यथा हि माणिक्यमणिव्यासङ्गान्निर्मलोऽपि काचो माणिक्यच्छायाप्रभावाद्रक्तः प्रतिभासते तथैव निःसङ्गोऽपि पुरुषोऽन्तःकरणप्रतिबिम्बितस्तद्धर्मच्छायात आत्मानमविवेकात्सुखिनं दुःखिनञ्चानुभवति । विवेकद्वारा अविवेकनिवृत्तिरेवास्य दर्शनस्य मुख्यं लक्ष्यम् ।

अथ दिवादिगणे पठितात् समाध्यर्थकाद् युजधातोर्निष्पन्नोऽयं योगः समाधिमेवार्थं प्रकटयति । समाधिर्हि चित्तवृत्तिनिरोध इति सिद्धान्तकौमुद्यां भट्टोजिदीक्षिताः जगदु[illegible]र्थनिर्णये यद्दुःखमयम् । दुःखापनोदनायैव प्राणिनां सततं प्रवृत्तिः । [illegible] बहुले प्रयत्ने सत्यपि न दुःखनिवृत्तिः । लौकिकानि सुखान्यपि दुःखानुविद्धत्वाद् दुःखरूपाण्येव । अतो दुःखानामात्यन्तिकीं निवृत्तिमेव परमपुरुषार्थं मन्यन्ते योगिनः । तदेव हि कैवल्यं मन्यते । कैवल्यपदप्रदर्शनमेव योगदर्शनस्य मुख्यं लक्ष्यम् । तच्च योगाङ्गानुष्ठानादेव सिध्यति । यथा यथा हि योगाङ्गान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा अज्ञान-मलावरणं नश्यति । ततश्च क्रमशो ज्ञानदीप्तिरुदेति ।

योगाङ्गानि च यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-नामभिरष्टौ प्रसिद्धानि। योगसिद्धयेऽभ्यासवैराग्ययोरावश्यकता वर्तते, परं नैतयोः सहसोपलब्धिः। एतत्कृते क्रियायोगः समुपदिष्टः—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानीति। तपो विना न मनोनैर्मल्यम्, अतस्तपोऽनुष्ठेयम्, तदर्थं स्वाध्यायः परमावश्यकः। स्वाध्यायो हि वेदाध्ययनमीश्वरप्रणिधानञ्च, सर्वकर्मणामीश्वरार्पणं तत्फलानभिसन्धानञ्च। सोऽयं क्रियायोगो योगसिद्धयेऽवश्यानुष्ठेयत्वेनोपदिष्टोऽत्र। दर्शनमिदं पतञ्जलिप्रणीतत्वात् पातञ्जलमपि प्रोच्यते। इदं हि ईश्वरः,जीवः प्रकृतिश्चेति तत्त्वत्रयं मन्यते।

भारतीयदर्शनशास्त्रेषु साङ्ख्ययोगौ त्वतिसम्बद्धौ वर्तेते। भगवद्गीतायामपि द्वयोरैक्यं प्रतिपादयता भगवता गीताचार्येण स्पष्टमुद्घुष्टं यद्बालबुद्धय एव साङ्ख्ययोगौ पृथक् पृथक् स्वीकुर्वन्ति। परमिमे दर्शने परमं नैकट्यं प्राप्ते अपि स्वल्पं भेदं वहत एव। साम्प्रतं यस्यां दशायामिमे विद्येते तत्र योगः साङ्ख्यस्य पूरकः प्रतीयते।

न्याय-वैशेषिकयुग्ममिव तथा साङ्ख्य-योगयुग्ममिव पूर्वोत्तरमीमांसायुग्ममपि प्रसिद्धं वरीवर्त्ति। तत्र पूर्वमीमांसादर्शनस्य प्रणेता मुनिर्जैमिनिरस्ति।असौ मुनिरुत्तरमीमांसाकारस्य बादरायणस्यान्तेवासी आसीत्।पूर्वमीमांसादर्शनमेव मीमांसादर्शनशब्देनोच्यते। दर्शनस्यास्य यागादिधर्मविवेचनं तत्प्रतिपादकश्रुतीनाञ्च तात्पर्यनिर्णयप्रदर्शनं मुख्यो विषयः। धर्मश्चात्र वेदविहितो यागादिकार्यकलापः। वेदेषु कर्मकाण्डविषयः सविशेषमाम्नातः। अतः कर्मकाण्डस्य सविशेषं मीमांसनमेवात्र प्राधान्यं भजते। अत एवेदं कर्ममीमांसा, धर्ममीमांसा, यज्ञमीमांसा

इत्यादिनामभिरप्यभिधीयते। धर्मं व्याकुर्वाणो जैमिनिर्ग्रन्थारम्भे लिलेख 'चोदनालक्षणो धर्मः' इति। चोदना हि नाम विधिरूपोऽर्थात् क्रियाप्रवर्त्तकवचनविशेषरूपो वेदभागः, अतो विधिवाक्यविहितो यः श्रेयस्करो यज्ञ-दान-होमादिरूपः क्रियाकलापः स एव धर्मपदवाच्यः।

मीमांसादर्शने प्रमाणानां स्वतःप्रामाण्यवादो मूर्धाभिषिक्तः। यतो मीमांसकाः प्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यमेव मन्वते, न पुनः परतः प्रामाण्यम्। अत्र होमे परतः प्रामाण्यं स्वीकुर्वद्भिस्तर्कनयविद्भिः सह सर्वथा विरोधमाचरन्ति, किन्तु स्वतःप्रामाण्यवादेऽप्यत्र कुमारिलभट्ट-मुरारिमिश्र-प्राभाकरादिषु मीमांसकेषु मिथो विचारभेदो लभ्यते।

मीमांसकाः कथयन्ति यदत्र जगति पदार्थास्त्रिधा विभक्ताः—भोगायतनं, भोगसाधनानि भोग्यविषयाश्चेति। तत्रात्मा भोगायतनमधिवसन् भोगाननुभवति, इन्द्रियाणि भोगसाधनानि सन्ति, यत एभिरेवात्मा भोगान् भुङ्क्ते, भोग्यपदार्थाश्च भोग्यविषयाः सन्त्येव। एतत्त्रिविधतत्त्वसंवलितमिदं दृश्यं जगत्प्रवाहरूपेण नित्यम्। सर्वप्रपञ्चसम्बन्धविलयनमेव चेमे मोक्षं निगदन्ति, ईश्वरस्य च कर्मफलप्रदातृत्वं स्वीकुर्वन्ति, ईश्वरार्पणधिया च कृतं कर्म निःश्रेयसाय कल्पते।

अथोत्तरमीमांसादर्शनमौपनिषदं दर्शनम्। परन्तु वेदान्तदर्शनमेवास्य विशिष्टाऽभिख्या। सहैवेयं शारीरकमीमांसानाम्नाऽपि स्मर्यते। ब्रह्मसूत्रापरनामान्युत्तरमीमांसासूत्राणि बादरायणप्रणीतानि, अत्रोत्तरमीमांसायामात्मचिन्तनपरैरन्यमहर्षिभिः सह बादरायणो मुनिरात्मनोऽन्तेवासिनो जैमिनिमुनेरपि मतं

तन्नामोल्लेखपूर्वकमाचष्टे। एतेनेदमपि प्रतीयते यत्सूत्ररचनाकाल एव जैमिनिविचारधारोल्लेखनीयाऽभूदिति, येन गुरुपदमधितिष्ठताऽपि व्यासेन तद्विचाराश्चिन्तिताः।

यथा पूर्वमीमांसा धर्मजिज्ञासातः प्रारभते तथैवमुत्तरमीमांसा ब्रह्मजिज्ञासात उपक्रमते, ब्रह्मचिन्तनाच्चेद सर्वमूर्धन्यं दर्शनं स्वीक्रियते। श्रीमता शङ्कराचार्येण ब्रह्मसूत्रेषु स्वकीये शारीरकभाष्येऽद्वैतवादः प्रतिपादितः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किञ्चन", "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" इत्यादिश्रुतिस्मृत्यादिवाक्यान्याश्रित्य केवलं ब्रह्मैव निखिलविश्वप्रपञ्चस्य कारणम्। नैव च ब्रह्मातिरिक्तं किमपीति स्वीकुर्वन्त्यद्वैतवादिनो वेदान्तिनः। अयमेवाद्वैतवादो वेदान्तदर्शनस्य प्रधानः सिद्धान्तः। एकमपि सद् ब्रह्म कूटस्थनित्यं माययाऽनेकधेव विभाव्यते। तत्र द्विरूपं हि ब्रह्म एकं नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टम्, इदमेव सगुणं ब्रह्म। तद्विपरीतञ्च निरस्तसमस्तोपाधिसम्बन्धं निर्गुणं ब्रह्म। परं सगुणं रूपं मायिकं न पारमार्थिकम्।

शङ्करमतानुसारं सदसद्विलक्षणा काऽप्यनिर्वचनीया ब्रह्मणः शक्तिर्माया व्यवह्रियते। माया अविद्या चेमौ शब्दावपरपर्यायौ। मायोपहितं ब्रह्मैव जगद्व्यापारे प्रवर्तते। शाङ्करनये हि निर्विशेषं ब्रह्म मायोपाध्यवच्छिन्नं सद् यदा सविशेषब्रह्मत्वमुपैति तदा स ईश्वरः कथ्यते। एष एव चेश्वरो विश्वस्य सृष्टिस्थितिविनाशहेतुर्मन्यते। सृष्टिनिर्माणञ्च ब्रह्मणो लीलामात्रम्। अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं हि जीवं मन्यन्ते अद्वैतवादिनः।

५ अत्रेदमपि बोध्यं यद्दर्शनशास्त्राणां द्वौ प्रमुखौ भागौ स्तः तत्त्वज्ञानं ज्ञानमीमांसा चेति। ज्ञानमीमांसायां प्रमाणानां

विषयः प्राधान्यमवगाहते । साङ्ख्ययोगौ प्रत्यक्षानुमानशब्दान् प्रमाणकोटौ गृह्णीतः । न्यायशास्त्रं त्वेतदतिरिक्तमुपमानमपि प्रमाणत्वेनोरीकरोति । यद्यपि साङ्ख्यदर्शनं शब्दं प्रमाणयति किन्तु प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्र स्वकर्मणि विपत्तिमनुते। योगस्य विषयस्तु चित्तवृत्तिनिरोधो विद्यते । अतोऽत्रानुशासनस्यैव प्राधान्यं विराजते । परन्त्वत्र वेदान्तदर्शने ब्रह्मसूत्र प्रथममेव सूचयति यदत्र ब्रह्मजिज्ञासैव विवेचनस्य विषयः । अतोऽत्र प्रमाणविषये न किमपि विचारजातमुपस्थापितं सूत्रकारेण । तदिदमुपयुक्तमपि प्रतीयते । यतः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेमे दृष्टजगतः, परिज्ञाने एवास्मत्साहाय्यमाचरतः । परमिदं वेदान्तदर्शनं तु दृष्टजगतो न किमप्यस्तित्वं स्वीकरोति । अतोऽत्र दर्शने प्रत्यक्षानुमानयोर्न किमपि स्थानम् । भगवत्पादेन व्यासेन तु केवलं शब्दप्रमाणमाश्रित्य ब्रह्म विवेचितम् । शब्दप्रमाणे च मन्त्रश्रुतिस्मृतीरेव गृह्णीय वयमित्यलं प्रपञ्चितेन ।

दर्शनानि त्रीणि वा षट्

भगवतो वेदस्य समादेशोऽयं यदात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति। अतः सर्वैरेव मानवैः श्रुतिपथमनुसृत्य अयमात्मा श्रोतव्यः, श्रुतेस्तात्पर्यमभिज्ञायोपपत्तिपूर्वकमयं मन्तव्यः, युक्तिभिः शास्त्रानुसन्धानैश्च निश्चितस्वात्मा निरन्तरं निदिध्यासितव्यः। तत आत्मदर्शनं जायते। एभिस्त्रिभिरुपायैरात्मनः सम्यग्ज्ञानं भवति। भ्रम-संशीतिशून्यमात्मज्ञानमेवात्मदर्शनं गीयते। येषु शास्त्रेषु प्राधान्येन परमात्मनो निरूपणं भवति, जगतो मूलतत्त्वञ्च यत्र विचिन्त्यते जगतः समुत्पत्तिविषयकोऽपि यत्र विचारो वितन्यते तानि शास्त्राणि दर्शननाम्नाऽभिधीयन्ते। अतः सोपकरणस्यात्मनो निरूपकाणि दर्शनशास्त्राणीति निर्गलितोऽर्थः।

इमानि दर्शनानि षडिति पुरातनी रूढिः। ग्रन्थकारैरपि तदनुयायिभिस्तथैवोट्टङ्कितम्। तानि यथा—न्यायदर्शनम्, वैशेषिकदर्शनम्, साङ्ख्यदर्शनम्, योगदर्शनम्, पूर्वमीमांसादर्शनम् उत्तरमीमांसादर्शनञ्च। उत्तरमीमांसैव वेदान्तदर्शनमिति वेदप्रमाणभूतानीमान्यास्तिकदर्शनानि षट्। परमिह स्वनामधन्याः

स्व० मधुसूदनविद्यावाचस्पतयो विप्रतिपद्यन्ते । अन्येऽपि दर्श-मन्तारो वेदवक्तारो विद्वांसो वदन्ति यत्कृते बौद्धिकव्यायामैः दर्शनानां षट् सङ्ख्येयं नोपयुक्तेति । यतः कारणमेतत् प्रतिभाति—

न्यायदर्शनं वैशेषिकदर्शनञ्च न पृथक् पृथक् । एतयो-रात्म—परमात्मनोः स्वरूपस्य समानरूपत्वात् । यद्यपि द्वयो-रेतयोः पदार्थगणनायां प्रमाणगणनायाञ्च स्वल्पमन्तरं विद्यते किन्तु न तत्तुल्यविकल्पमिति यदवाश्रयप्रमाणविद एव प्रमाणम् । न्यायशास्त्रं तु न स्वतन्त्रदर्शनं वक्तुं शक्यम् । तत्र तु विचारनियमा एव चिन्तिताः प्राधान्येन । वादिनः प्रतिवादिन कथं विवदेरन्, के नियमास्तैः पालनीयाः—इत्यादिविचारा एवात्र तर्कविस्तमेन गौतमेन निरूपिताः । यानाश्रित्य पूर्वं विव-दमानानां लोकानां विवादा निर्णीयन्तेस्मेति त एव ग्रन्थारम्भे पदार्थनामभिरुपस्थापिताः सूत्रकारेण । परं न ते विचारा दिनो-दाहृतीश्चिन्तयितुं शक्याः—इति हेतोर्गौतमेनोदाहृतिरूपे वैशेषिकदर्शनस्य तत्त्वानि गृहीतानीति न्यायदर्शनं न किमपि स्वतन्त्रं दर्शनं कथयितुं शक्यते । न्यायवैशेषिकयोः सम्मिलित-स्वरूपं दर्शनमिति तु वर्तत एव । अथवा दर्शनमेव स्यादेतेन द्वे शास्त्रे । भिन्न-भिन्नस्वरूपेणेमे द्वे दर्शने स्तः—इति वचनं तु न समीचीनं प्रतिभाति ।

एवमेव साङ्ख्य-योगयोरियं स्थितिर्वर्त्तते । अनयोर्दर्शन-योरात्मदर्शनस्वरूपं नातिभिन्नमितीमे दर्शनेऽपि न पृथक्स्वरूपे । एवं वाच्यं यन्न्यायशास्त्रे दर्शनानां पूर्वाङ्गभूतं विद्यते योग-शास्त्रञ्चोत्तराङ्गभूतम् । न्यायनिर्णयनिरूपणात् न्यायशास्त्रम्

शाङ्गता समुचिता, निदिध्यासननिरूपणादर्थाद् ध्यानपद्धतेः तिपादनादस्य योगशास्त्रस्योत्तराङ्गता समुपयुक्ता प्रतिभाति। ोगशास्त्रे ध्यानपद्धतौ परमेश्वरोऽपि प्रतिपादितः, किन्तु ागद्वचनायां तस्येश्वरस्य न कोऽप्युपयोगो निरूपितः। तत्त्व-निरूपणाच्च द्वयोरेकविषयत्वमस्त्येव। अतः उभेऽपीमे शास्त्रे मेलित्वैकमेव दर्शनस्वरूपं कलयतः। अथवा न्याय-वैशेषिक-रदिमेऽपि दर्शनस्यैकस्यैव शास्त्रद्वयभूते स्तः।

पूर्वमीमांसाशास्त्रं तु कर्मकाण्डविधिविवेचनात्मकमेव सर्वम्। कथमस्य दर्शनशास्त्रे ग्रहणमिति तु दार्शनिका एव प्रमाणम्। यद्यपि मीमांसासूत्राणां भाष्यादिषु यत्र तत्र प्रासङ्गिक-मात्मतत्त्वनिरूपणमपि प्राप्यते, किन्तु नैव जैमिनिमुनिर्दार्शनिकतत्त्वं निरूपयितुं मीमांसासूत्राण्यरीरचत्। व्याख्यातारो विद्वांस एवात्मतत्त्वसम्बन्धे कुत्रचिदन्यदर्शनानां कुहचिच्च ते आत्मनोऽपि मतं निरूपितवन्तः। व्याख्या तु बुद्धिबलापेक्षा भवत्येवेत्युक्तचरं प्राग्प्रबन्धेन श्रीहर्षेण। अतो न तानि भाष्ये व्याख्याया वा प्रतिपादितान्यात्मतत्त्व-निरूपणसम्बन्धीनि मतानि जैमिनिमुनेः कथयितुं शक्यन्ते। जैमिनिना तु कर्मकाण्ड-विधीनां सन्देहनिवारणायैव सूत्ररचना ह्यकारि। अतो नेदं मीमांसादर्शनमपि स्वतन्त्रं किमपि दर्शनम्।

•

उत्तरमीमांसायां भगवान् व्यासः सयुक्तिकमात्मतत्त्वज्ञानं निरूपितवान्। अन्यदर्शनानां खण्डनमपि यथास्थानं सविस्तारं तेन कृतमित्यवश्यं वेदान्तदर्शनापरनामधेयमुत्तरमीमांसादर्शनं दर्शनशास्त्रकोटावायाति।

एवं रीत्या वेदशास्त्रानुगतानि त्रीण्येव दर्शनानि सिध्यन्ति वैशेषिक-साङ्ख्य-वेदान्तदर्शनानीति। षट्सङ्ख्या-पूरणाय त्रीणि नास्तिकदर्शनान्यप्यत्र समुद्धर्तुं शक्यन्ते—चार्वाकदर्शनं, बौद्धदर्शनं जैनदर्शनञ्च। इत्थं त्रीणि नास्तिक-दर्शनानि तावन्त्येवास्तिकदर्शनानीति सम्भूय षड् दर्शनानि भवन्तीति।

दार्शनिकदृष्ट्या सृष्टिक्रमे परमेश्वरः

साम्प्रतमिह मध्येभारतं भारतीयदर्शनानि यूरोपीयदर्शनानि चोभयविधानि प्रचलन्ति सन्ति, तत्रेश्वरस्यास्तित्वे कतिचन भारतीय-दर्शनानि न विश्वसन्ति, कतिचन च सृष्टिरचनायां तस्य सहयोगमेव न स्वीकुर्वन्ति। वस्तुतो भारतीयदर्शनशास्त्रानुसारं यद्यपि शाश्वतिकस्य सुखस्य साधनं तत्त्वज्ञानाधिगमनमेव निरचीयत परन्तु सुखसाधनस्योपायपरम्परायां न सर्वत्र सर्वदा चेश्वरस्य निकटसम्बन्धोऽनिवार्यो नितरां स्वयक्रियत। अत एव साङ्ख्य-मीमांसादर्शने नेश्वरस्यास्तित्वममन्यताम्। न्याय-–वैशेषिकदर्शनाभ्यां प्रत्यक्षरूपेणेश्वरस्यास्तित्वं स्वीकृत्यापि दुःखनिवृत्तौ तस्यानिवार्यसम्बन्धो न प्रत्यपाद्यत। योगदर्शने यद्यपीश्वरस्य सत्ता स्वीकृता दृश्यते परन्तु जगद्रचनाकर्मणि न तस्य कश्चनोपयोगो दृष्टिगोचरतां याति। केवलं वेदान्तदर्शनमेव मायाशबलित-ब्रह्मापरपर्यायस्येश्वरस्यास्तित्वं स्वीकुरुते तमेव च जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणं मनुते।

विषयेऽस्मिन् साङ्ख्यविदो वदन्ति यज्जीवात्मापरनामधेयः पुरुषः प्रकृतिश्चेति पदार्थद्वयमेवास्ति। सृष्टिरचनाकार्य-

मेतद्द्वयसंयोगेनैव सम्पद्यते । सत्त्व-रजस्तमसां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिरित्यभिधीयते । यद्यपीयं प्रकृतिर्निश्चेतना तथापि क्रियाशीला, परं पुरुषश्चेतनोऽपि निष्क्रियः । अतो नेमौ प्रकृति-पुरुषौ पृथगवस्थितौ सृष्टिरचनां कर्तुं पारयतः । महाप्रलयानन्तरं यदायं पुरुषः 'एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यभिकामयते तदा प्रकृत्या संयुज्यते । अनयोश्च संयोगः पङ्ग्वन्धयोः संयोगः समभिधीयते धीरैः । यथान्धः पुरुषश्चलनशक्तिसम्पन्नोऽपि दृष्टिशक्तेरभावान्निष्क्रियः, पङ्गुश्च पुरुषो दृष्टिशक्तिसम्पन्नोऽपि चलनशक्तिशून्यत्वात् क्रियाहीनः, अतोऽन्धो जनः पङ्गुं पुरुषं स्वस्कन्धम् आरोह्य कार्यं सम्पादयति तथा जडरूपाऽपि क्रियाशीला प्रकृतिश्चेतनेन किन्तु निष्क्रियेण पुरुषेण संयुज्य सृष्टिरचनां वितनुते । प्रकृतेरिदं कार्यं पुरुषस्य भोगाय तथाऽपवर्गायार्थान्मोक्षाय भवतीति मन्यते तज्ज्ञाः ।

प्रकृतिपुरुषयोरनेन संयोगेन सर्वप्रथमं महत्तत्त्वमुत्पद्यते । इदमेव हि बुद्धिरित्यभिधीयते । त्रिगुणात्मकान्महत्तत्त्वात् त्रिगुणात्मकोऽहङ्कारः समुत्पन्नो भवति । ततः सात्त्विकादहङ्कारान्मनसो दशेन्द्रियाधिष्ठातृदेवानाञ्चोत्पत्तिर्भवति । राजसादहङ्कारादिन्द्रियाणि, तामसादहङ्काराच्च पञ्च तन्मात्राणि समुद्भवन्ति । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि जन्म गृह्णन्ति । एभ्य एव च पञ्चभूतेभ्यो जगदिदं जायते । प्रलयावस्थायामुपस्थितायां सकलमिदं जगद्येन क्रमेण समजायत ततो विपरीतक्रमेण विलीयते ।

एवं हि यदा प्रकृतेरिमानि चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रकृतिपुरुषसंयोगेन समुद्भवन्ति तदा तदर्थमलमीश्वराभिधस्य पदार्थान्तरस्य कल्पनयेति साङ्ख्यसारः ।

एतदतिरिक्तं पूर्णकामस्य निरीहस्येश्वरस्य सृष्टिरचना-प्रवृत्तौ न कश्चन स्वार्थः प्रयोजनं वा प्रसिध्यति, नापि च सृष्टेः पूर्वं शरीरेन्द्रियादीनामनुत्पत्तौ जीवेषु सुखदुःखसम्बन्धः। तत्सम्बन्धाभावे च परमेश्वरहृदये करुणासञ्चारः सर्वथा असम्भवः करुणाहेतोर्दुःखस्याभावात्। अस्यां स्थितौ पुरुषातिरिक्तस्या-र्थाज्जीवात्मभिन्नस्य कस्यचनेश्वरस्यावश्यकत्वं नास्ति साङ्ख्यदर्शने।

अथ योगदर्शनं साङ्ख्यशास्त्रोक्तेभ्यः तत्त्वेभ्योऽतिरिक्तं परमेश्वरतत्त्वमपि स्वीकरोति। किन्तु सृष्टिरचनायां न तस्य काञ्चनोपयोगितां मनुते तत्। अत इदमेव कथयिष्यते यद्योगदर्शनमपि सृष्टिविधौ नेश्वरस्यावश्यकतामनुभवति।

वैशेषिकं दर्शनं हि सूक्ष्ममिन्द्रियाग्रहीतं निरवयवमेकं नित्यं द्रव्यं स्वीकरोति। तद्धि परमाणुनाम्ना प्रसिध्यति। अयञ्च परमाणुः पार्थिवाप्य-तैजस-वायव्यभेदाच्चतुर्विधः। सृष्टेः पूर्वमिमे परमाणवो निश्चलावस्थायां तिष्ठन्तो जगद्रचनारम्भे मिथः संयुज्य सृष्टिक्रममुपक्रमन्ते। प्रलयकालेऽप्येते वियुज्यन्ते सृष्टेश्च नाशो जायते। कार्यमेतज्जीवानामदृष्टवशात् स्वत एव सम्पद्यते। नात्र जगद्रचनाकार्यसञ्चालने ईश्वरस्य कस्यचन कापि कार्यकारितेति।

न्यायदर्शनमपि वैशेषिकदर्शनमनुसरत् परमाणुभ्य एव सृष्टिरचनाकार्यं स्वीकृत्यादृष्टं कर्मफलमेवात्र कारणं मन्यते। अतो नास्यापि मते जगद्रचनाकर्मणि परमेश्वरस्य किमपि कार्यकारित्वम्।

अथ च कर्मण एव प्राधान्यं स्थापयन्मीमांसादर्शनं प्रतिपादयति यद्वेदेषु 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यैः फलप्राप्ति प्रति कर्मण एव कारणता विद्यते लोकेऽपि च कृष्यादिकर्मणैवाऽन्नादीनामुपलब्धिः प्रत्यक्ष दृष्टिगोचरतां यातीति नात्रेश्वरस्य कश्चन सहयोगः। कर्मैव सर्वं सम्पादयति। अतो मीमांसादर्शनेऽपि न कोऽपीश्वरपदार्थः।

सर्वान्ते ईश्वरस्य समर्थकं स्वकीयं सिद्धान्तं वितन्वद्वेदान्तदर्शनं वदति यत्साङ्ख्यमते क्रियाशीलाऽपि प्रकृतिर्जडरूपैव, जडरूपया प्रकृत्या च महतो जगतो रचनाऽसम्भवा, एवमेव पुरुषश्चेतनोऽपि निष्क्रियः, उदासीनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावश्च। एतद्विधस्य तस्य भोगापवर्गाभ्यां किं प्रयोजनम्? पूर्णकामत्वेन चापि न तस्य जगद्रचनाकार्यप्रवृत्तिः सम्भवति। पदार्थद्वयेतरपीश्वरस्य सत्ता विद्यत एव, सैव च मिथः सम्भूय कार्यं कर्तुं प्रेरयति। परन्तु जडप्रकृतौ, निष्क्रिये पुरुषे च न सा सम्भावना। एतदतिरिक्तं यदि प्रकृतौ गुणानां साम्यावस्था स्वाभाविकी तर्हि न वैषम्याभावे सृष्टिक्रमः सम्भवः। यदि वा वैषम्यं स्वाभाविकं तर्हि सृष्टिक्रमस्यावरोधः प्रलयश्च कथं भवेताम्? अथवा पुरुषस्य प्रेरणया प्रकृतौ साम्य-वैषम्यावस्थायां स्वीकृतायां निष्क्रियस्य पुरुषस्यौदासीन्यमसङ्गतम्। कालादिकारणाद्वा साम्यवैषम्योपस्थितिश्चेत्तथापि प्रकृतौ ज्ञानशक्तेरभावाच्चातुर्यपूर्णा जगद्रचनाऽसम्भवा। अत साङ्ख्यमते सर्वनियन्ता ईश्वरः प्रेरकः कश्चन अवश्यं स्वीकार्यो भवति।

योगदर्शनञ्च काममस्वीकृत्यापि सृष्टिरचनायामीश्वरस्योपयोगं परमेश्वरतत्त्वं तु तदप्यभिमनुत एव।

वैशेषिकमतानुसारं सृष्टेः पूर्वं परमाणवो निश्चलावस्थायां तिष्ठन्ति । सृष्टिकालेऽथ ते संयुज्यन्ते प्रलयकाले च वियुज्यन्ते । परं सत्यप्येवंविधे संयोगवियोगक्रमे जडपरमाणूनां सर्वप्रथमः कश्चन प्रेरकोऽवश्यं स्वीकार्यो भवति । स च प्रेरकः परमेश्वराद्भिन्नः को भवितुमर्हति ? न पुनर्जीवानामदृष्टेन परमाणूनां प्रेरकेण भवितुं शक्यते, जीवैः सह संस्थितस्यादृष्टस्य चेतनस्य सहयोगं विना कार्यकरणासामर्थ्याच्च । न चाप्येवं कथयितुं शक्यते यज्जीवानां शुभाशुभकर्मभिरदृष्टः कश्चिद् सृज्यते, सृष्टेश्च तेन सह चेतनः कश्चित्तिष्ठति । स एव हि चेतनोऽदृष्टं प्रेरयति सृष्टिं विधातुमिति । परन्त्वत्रापि सैषा बाधा शिरसि समापतति यद् सृष्टेः पूर्वं चेतनजीवात्मा न जाग्रद्-स्थितौ तिष्ठति, सृष्टिकाले च तं चेतनावस्थायां समानेतुमवश्यं कोऽपि प्रेरको भवेद् । स च प्रेरको नित्यचैतन्यस्वरूपात्परमात्मनोऽन्यः को भवितुं शक्नोति ? एतेन वैशेषिकमतानुसारं परमाणुवादमवलम्ब्य सृष्ट्युत्पत्तेः समर्थनं वितन्वन्न्यायदर्शनमप्यपास्तं भवति ।

अथ मीमांसामतानुसारमपि जडात्मकं परिवर्त्तनशीलं क्षणिकं च कर्म नैव फलदानव्यवस्थाकरणे सामर्थ्यं बिभर्त्ति । तत्तु केवलं निमित्तमात्रमेव । व्यवस्थापकेन तु केनचन चैतन्येनैव भवितव्यम् । स च चैतन्यभावः परमेश्वर एव, नान्यः ।

एवं हि वेदान्तविद्भिः सृष्ट्युत्पादने दर्शनान्तरमतानि दूषयित्वा तत्रेश्वरस्य कारणत्वं प्रत्यपाद्यत ।

ईश्वरसम्बन्धे सोऽयं विचारो जातो भारतीयदर्शनानुसारम् । अथ यूरोपीया दार्शनिकास्तु प्रायः सृष्ट्युत्पादनक्रमे नेश्वरमाश्रयन्ते । ईशवीय-वर्षारम्भतो वर्षाणां षट्शतीपूर्वं

गिरीस (ग्रीस) देशे थेलीजाख्यो विद्वानभूत्। असौ जलमेव सर्वमूलद्रव्यममन्यत। तस्य सिद्धान्तस्यानुसारं जलद्रव्यादेव सर्वमजायत। किन्त्वस्यैव सहवासिन एनेक्सिमेण्डरस्य मतानुसारं जगतो मूलद्रव्यं सर्वविशेषैः शून्यं किमप्यलौकिकं वर्तते। अस्मिन्नेव मूलद्रव्ये संसृतेरुदय-प्रलयौ भवतः। अमुना द्रव्येण परिमाणेऽपरिच्छिन्नेनासङ्ख्येन च भाव्यम्, अन्यथा प्रतिक्षणं जायमानेन सृष्टिक्रमेण तस्यासावश्यम्भावी आसीत्। तदि अविनाशि निरन्तरं गतिशीलं च विद्यते। तद्गत्यैव सर्वे विशेषा अजायन्त। तत्र सर्वप्रथमं शीतोष्णभेदः समुदभवत्। ततः पृथ्वी-वाय्वादयोऽभूवन्। पूर्वं पृथ्वी द्रवरूपाऽऽसीत्। ततः क्रमशः शुष्कायाञ्च तस्यां जीवसृष्टिरजायत।

एनेक्सिमेण्डरस्य शिष्य एनेक्सिमेनीजोऽभूत्। असौ वायुं प्रथमं द्रव्यममन्यत। वायौ च गुणद्वयं विद्यते—शिथिलता घनता च। तत्र शीतलत्वेन घनत्वम्, उष्णत्वेन च शैथिल्यं जायते। वायोः घनत्वेन पृथ्वी, उष्णत्वेन चाग्नि-तारादयोऽजायन्त।

इमे त्रयोऽपि दार्शनिकाः समकालिकाः समजायन्त—हिप्पो, इडीयन, डीयोजेनीजश्चेति। एषु थेलीजस्य समर्थनं विदधता हिप्पोमहोदयेन जलमेव सर्वमूलतत्त्वं मत्वा नेश्वरपदार्थस्य कस्यचन समर्थनमक्रियत। एतदनुसारमार्द्रभावतोऽग्निरजायत। अग्नि-उत्तापाच्च जगतः समुत्पत्तिरभवत्।

ईडियसो दार्शनिकोऽपि परमेश्वरतत्त्वस्य सत्तामनङ्गीकृत्य वायुमेव मूलतत्त्वं स्वीकृत्य एनेक्सिमेनीजस्यैव मतं समर्थयाञ्चकार। डीयोजेनीजोऽप्येनमेवान्वसरत्। असौ हि दर्शनविमर्शनशीलस्य विपश्चिद्वरस्य एनेक्सागोरसमहोदयस्यापि सिद्धान्तं खण्डयाम्बभूव। अमुष्य एनेक्सागोरसस्य मतेनानन्तानि

न्यानेकतत्त्वानि जगतः कारणभूतानि सन्ति। एभिरेव तत्त्वैरात्मा स्वेच्छानुसारं जगद्रचनां विदधाति। किन्तु दार्शनिको डोयोजेनीजो युक्तियुक्तं स्वमतं स्थापयन् व्यलेखीत्, यदनेकेषां विभिन्नतत्त्वानां मिथः सङ्घटनमसम्भवम्। वायुरेव जीवेषु प्राणरूपेण कर्म कर्तुं शक्तिं सञ्चारयतीति।

एनेक्सिमेनीजस्यैव समये मध्येसेमस्द्वीपं कश्चन पीथागोरसाभिधो विबुधो बभूव। तदनुसारमपि नास्ति कश्चन परमेश्वरपदार्थः। सम-विषमरूपां सङ्ख्यामनुसृत्य समस्तवस्तुसृष्टिरजायत। तत्र समसङ्ख्या तु द्वाभ्यां विभज्यते, न पुनर्विषमा सङ्ख्या। अतएव समपदार्थस्य रूपमनियतं विषमस्य च नियतं विद्यते। अनियतरूपाणां वस्तूनामपेक्षया समरूपाणि वस्तूनि पूर्णरूपाणि भवन्ति। एवं समो विषमश्च,नियतोऽनियतश्च, एकं बहु च, दक्षिणो वामश्च, स्त्री पुरुषश्च,गतिः संस्थितिश्च,सरलः कुटिलश्च, प्रकाशोऽन्धकारश्च, उत्तमोऽनुत्तमश्च, प्रलम्बश्चतुष्कोणश्चेति दशभिर्भेदैः सर्वं जगद् व्याप्तं विद्यते। एषां भेदानां सङ्घटनं स्वरसंयोगानुसारं जायते। आत्माऽयं एकस्माच्छरीरादपरस्मिन् शरीरे प्रवेशं कर्तुं शक्नोति। दशसहस्रवर्षानन्तरञ्चैतज्जगत् पूर्वावस्थायामेव स्वतो विलीयते। जीवश्च यादृशं कर्मेह कुरुते तत्फलं भाविजन्मनि स्वयं लभते। नात्रापि परमात्मनो हस्तक्षेपः। अयमस्ति पीथागोरसस्य सिद्धान्तसारः।

पीथागोरसस्यैवास्य समकालिकः एनैक्सिमेंडरस्य शिष्यः कश्चन जेनोफ्नीजनामकोऽप्यन्यो दार्शनिको बभूव। असौ हि पूर्वं यवनदेशेऽवात्सीत्। परं तत इटलीदेशमागत्य तत्रैव स्वसिद्धान्तं प्रचारयाम्बभूव। पूर्वं मिस्रदेशे आकाराचारव्यभिचारप्रवञ्चनादिषु कृत्येषु मानवव्यवहारमनुकुर्वन्त एव देवाः पूज्यन्ते स्म।

जेनोफेनीजोऽयं देवेषु व्यभिचारदुश्चरित्रादिकृत्यजातं मानव-सुलभमसम्भाव्यं विभाव्य तत् खण्डयामास। तस्य कथनमासीद्यत् देवेषु नानात्वं विद्यते। केवलमेक एवेश्वरो देवो विद्यते। स चानादिरनन्तः सर्वदोषशून्यश्च। सर्वमिदं चराचरं विश्वं तस्यैवैकेश्वरस्य स्वरूपं वर्तते–इति। एवमवश्यमनेन दार्शनिक-प्रवरेण परमेश्वरस्य सत्ता स्वीकृता।

जेनोफेनीजस्यान्तेवासी तद्देशनिवासी कश्चित् पार्मेनि-डीजो दार्शनिकप्रवरः समभवत्। असौ न केवलमीश्वरस्यैवैकत्वं साधयामास, अपितु वस्तुमात्रस्यैवैक्यसाधनेऽपि स्वबुद्धिं व्यापार-यामास अद्वैतसिद्धान्तञ्च समर्थयामास।

एवं यूरोपीयदर्शनान्यपि न प्रायः सर्वाणि सृष्टिक्रमे परमे-श्वरस्यास्तित्वं स्वीकुर्वन्तीति।

दार्शनिकानामात्मब्रह्मचिन्तनम्

"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० उ० २।४।५), "आत्मैवेद सर्वम्, तदुह वा आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यश्च" (शाङ्खायनारण्यकम् १३।१), "आत्मनि ब्रह्म" (शाङ्खायनारण्यकम् ११।१), आत्मनो वाऽरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" (श०ब्रा० १४।५।४.५), "सर्वं ह्ययमात्मा" (श० ब्रा० ४।२।२।१) इत्यादि—श्रौतवचनेषु विश्वसन्तः सन्त आत्मचिन्तन-विषयेऽवश्यं प्रयतेरन् । आत्मसाक्षात्कारेण मोक्षं लभते नरः । भ्रमसंशयादि-शून्यमात्मज्ञानमेवात्मदर्शनं कथ्यते । येषु शास्त्रेषु मुख्यत आत्मनः परमात्मनो वा निरूपणं जातं जगतो मूलतत्त्वञ्च यत्र विचारितं, तानि शास्त्राणि 'दर्शन'—नाम्ना प्रसिद्धानि । तत्रापि जैन–बौद्धादिनास्तिकदर्शनापेक्षया साङ्ख्य-वैशेषिकादि-आस्तिकदर्शनेष्वेव सूक्ष्मेक्षिकयाऽऽत्मचिन्तनं परमात्म-निरूपणञ्च लभामहे ।

वैशेषिकाः सुशक्ताभिर्नानायुक्तिभिरात्मानं शरीरेन्द्रियेभ्यः पृथक् साधयन्ति । एतन्मतमेवानुसरता गौतमेनापि तर्कविदा एकस्मिन् प्रकरणे युक्तियुक्तमात्मचिन्तनमुपस्थापितम् । द्वाभ्यामप्याभ्यां दार्शनिकाभ्यामात्मनो नित्यताऽपि स्वीकृता । गुण-द्रव्ययोः पार्थक्यस्य प्रतिपादन-विधौ सूत्रकाराविमौ 'स्याद्वाद' दर्शनमनुसरन्ताविवात्मनो नित्यानित्यस्वरूपमुभयात्मकमखण्ड-

यताम्। एतयोर्मतिविलासो वर्त्तते यद् बुद्धि-सुख-दुःखादयस्त्वात्मनो गुणा विद्यन्ते, अतस्तेऽनित्याः. किन्तु स्वयमात्मा नित्यः। एवं वैशेषिकैरात्मनो नित्यता स्वीक्रियते।

इमे आत्मनः प्रत्यक्षत्वमपि प्रतिपादयन्ति, सहैवानुमान-प्रमाणेनेश्वरमपि स्वीकुर्वन्ति। एतदनुसारमीश्वरस्त्वेकः, परं जीवात्मानोऽनन्ता विद्यन्ते। परमाणुभ्य एव एषां नयेऽपि जगदुत्पत्तिर्मन्यते। अवयव-शून्यत्वाद् इमे परमाणूना नित्यत्व-मभिमन्वते।

अथ साङ्ख्याः पुनरातिष्ठन्ते यदात्मा चेतनो निष्क्रियो विभुरसङ्गः प्रकृतेर्भिन्नश्च। ते ज्ञानसुखादीन् नात्मनो धर्मान् अपि तु प्रकृतेर्धर्मान् मन्यते। किन्तु साङ्ख्यानां दर्शनेऽत्र पुरुष-रूपेण स्वीकृत आत्मा प्रकृतित आत्मनो भेदं न मनुते। अयमेवा-विवेकः, अस्मादेवाविवेकात् प्रकृतेर्धर्मान् सुख-दुःखादीन् आत्मनो धर्मान् मन्यमानः स पुरुष आत्मानं दु खिनमनुभवति। अयमेव हि तस्य संसारो भोगो वा। यदा तु सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-रूपेण विवेकेन आत्मानं प्रकृतितो भिन्नमवगच्छति, तदा दुःखा-नामात्यन्तिक ऐकान्तिकस्च नाशो जायते, स एवापवर्गः। एतच्च दर्शनं जगदिदं प्रकृतेः परिणामं स्वीकुरुते। सहैवेदं दर्शनं वैशेषिकदर्शनमनुकुर्वत् पुरुषाणामानन्त्यमपि स्वीकरोति। नात्र परमात्मा ईश्वरो वा स्वीकृतः। योगदर्शने यद्यपि पुरुषाद् भिन्नः परमात्मा, किन्तु योगसाधनायां चित्तं स्थिरीकर्त्तुं तदुपयोगो, न तु जगद्रचनायाम्।

अथ मीमांसका आत्मनः कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वञ्च मन्यते। परं तत्र कुमारिलमतानुसारमात्मा न चैतन्यरूपः, प्रत्युत चिद-चिद्रूपः। शरीरादिसम्बन्धेन आत्मनि चैतन्यमुदयं लभते, किन्तु

स्वप्नस्थितौ विषयसम्पर्काभावे आत्मनश्चैतन्यमपपक्षयति । इद-मेवैषां कुमारिलभट्टानां नये आत्मनो जडत्व चैतन्यश्चोभय-धर्मकत्वं प्रतिपद्यते। प्राभाकरास्तु नात्मनः क्रियावत्वं स्वीकुर्वते। मीमांसका इमे ईश्वरस्य कर्मफलदातृत्वं स्वीकुर्वन्तः प्रपञ्च-सम्बन्धविलयं हि मोक्षं भणन्ति ।

आस्तिकेषु दर्शनेष्वात्मचिन्तनसम्बन्धे वेदान्तदर्शनमपि विशिष्टं स्थानं बिभर्ति । यथा साङ्ख्यदर्शने पुरुषापरनामनि आत्मनि अविवेकात् प्रकृतिधर्माणां दुःखादीनां प्रतीतिः, पुरुषाद् भिन्नस्वरूपा प्रकृतिश्च स्वतन्त्ररूपेण जगदुत्पादिका निर्दिश्यते, पुरुषाणामानन्त्यमपि अङ्गीक्रियते, न तथा वेदान्तदर्शने। सत्यपि प्रकृतिप्रपञ्चभूते जगति नेदं दर्शनं प्रकृतेः स्वतन्त्रसत्तां मनुते। एतन्मतानुसारं पुरुषपदवाच्यस्यात्मनः सत्तयैव सा प्रकृतिः सत्स्वरूपा प्रोच्यते । यथा शुक्तौ रजतज्ञाने सत्यपि न तत्र रजतद्रव्यस्य स्वस्य काचन सत्ता, शुक्तेः सत्तैव तत्र राजतो सत्ता राजते । एवमेव कार्यसत्ताऽपि न कारणसत्तातो भिन्ना सिध्यति । कारणसत्तयैव कार्यं सदित्यभिधीयते । न घटसत्ता तत्कारणभूतमृत्तिकासत्तातः पृथक्स्वरूपा । पृथक्सत्तायां स्वी-कृतायां तु विनाऽपि मृत्तिकां घटेन भाव्यम्, परं न तथा दृश्यते । अतो निश्चीयते यद् घटसत्ता न मृत्तिकातः पृथक्। अनेनैव क्रमेण पृथिव्याः सत्ता जलात्, जलस्य सत्ता तेजसः,तेजसःसत्ता वायोः, वायोः सत्ता आकाशाद्, आकाशस्य च सत्ता मायापरपर्यायायाः प्रकृतेः, प्रकृतेश्च सत्ता पुरुषपदवाच्याद् ब्रह्मणः । एवञ्च प्रकृतिर्न ब्रह्मणः स्वतन्त्रा । सा तु तच्छक्तिमात्रम् । आत्मनः पृथग्भूय न सा कदापि प्रतीयते । नैव शक्तिः कदापि शक्तिमतः पृथग्भूता इति प्राकृतिको नियमः । अतः प्रकृतेः शक्तेर्वा न कापि स्वतन्त्र-सत्ता । आत्मैवैकः सत्स्वरूपः । तत्सत्तयैवेदं सर्वं सत्तावद्

विद्यते । एवं वेदान्तिनामनुसारमात्मैव केवलं सद्रूपः, अन्यत्सर्वं प्रपञ्चजातं तु कल्पितरूपमेव । एकस्यैव आत्मतत्त्वस्य स्वीकरणादेवेदं दर्शनम् "अद्वैतदर्शनं" निगद्यते । एतदाचार्यपादैस्तैत्तिरीये भाष्ये (२।१) लिखितमपि—"विषयाकारेण परिणामिन्या बुद्धेः शब्दाद्याकारावभासास्त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते" इति । यथा हि भूतभविष्यदाद्युपाध्यवच्छिन्नस्यापि कालस्यैक्यम्, पूर्वापराद्युपाध्यवच्छिन्नस्य दिगात्मा वा ऐकात्म्यं सदा अप्रतिहतं तथैवास्यानेकभेदभिन्नस्य जगतः सत्तास्वीकारेऽपि न ह्यात्मनोऽद्वैतत्वे काचिद् व्याहतिः क्षतिर्वा। एवं हि वेदान्तिनां मते उपर्युक्तदिशा निर्दिश्यमान आत्मैव 'ब्रह्म'-पदेन कथ्यते ।

दार्शनिककेषु सम्प्रदायाचार्याणामपि विशिष्टमासनम्। तत्र विशिष्टाद्वैतवाद-प्रतिष्ठापको रामानुजाचार्यो वेदान्तसूत्राणां स्वमतप्रतिपादकं भाष्यमरीरचत्। आचार्याणामेषामीश्वरोऽनन्तज्ञानानन्दस्वरूपः समस्तसृष्टिस्थितिप्रलयकारकः सगुणो विद्यते । जीवश्च देहेन्द्रियमनोविलक्षणो ज्ञानाश्रयः अणुः सर्वथैवेश्वराश्रितश्चास्ति । द्वयोरेतयोर्जीवेश्वरयोर्जीवब्रह्मणोर्वा सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावरूपोऽभिहितः । ब्रह्मणोऽनुग्रहादेव च जीवो मोक्षं लभते । यथा अद्वैतवादिनो वेदान्तिनो मोक्षस्थितौ जीवस्य ब्रह्मणि विलयम् अर्थाद् ब्रह्मरूपत्वं मन्यन्ते, न तथैव रामानुजाचार्याः । इमे हि मुक्तावस्थायां जीवात्मनो ब्रह्मसायुज्यं स्वीकुर्वन्ति ।

अथ द्वैताद्वैत-प्रतिष्ठापको निम्बार्काचार्यो जीवमवस्थाभेदतो ब्रह्मणोऽभिन्नं भिन्नमपि च मनुते । अयं दार्शनिकः सम्प्रदायाचार्यः कथयति यथा भास्करः प्रकाशमयः प्रकाशाश्रयश्च,

तथैव जीवो ज्ञानाश्रयो ज्ञातापि च। जीवः कर्तृत्वे स्वतन्त्रः, परन्तु भोगे ब्रह्मणोऽर्थादीश्वरस्याधीनः। अतश्चेतनत्वेन साम्येऽपि नियम्यत्वेन स ब्रह्मणो भेदमुपैति। मोक्षेऽपि जीवस्त-दाश्रित एव, नहि पुनस्तल्लीनः। एतन्मतानुसारं ब्रह्म समस्ता-स्मितारागद्वेषादिशून्यं निःशेषज्ञानबलनिधानञ्च विद्यते।

अथ माध्वसम्प्रदाय-प्रवर्त्तको द्वैतमतवादप्रतिष्ठापको मध्वाचार्यो ब्रह्मसूत्रेषु स्वसिद्धान्तप्रतिपादकमणुभाष्यं ततान। द्वैतवादिनां माध्वानां ब्रह्म केवलं जगतो निमित्तकारणम्, उपादानकारणं तु प्रकृतिरेव। तेषां ब्रह्म च ईश्वरो निखिल-शक्तिसम्पन्नो विष्णुरेव। एकोऽपि स बहुरूपः समस्तरूपेण च परिपूर्णः। लक्ष्मीश्च माध्वानां परमात्मशक्तिः, या हि परमा-त्मनोऽधीनाऽपि ततो भिन्ना स्वीकृता माध्वैः। माध्वानां जीवश्च जन्ममरणस्वभावः, कर्मानुसारं सुखदुःखोपभोगी संसारी च स्वीकृतः। जीवोऽयं विना परमात्मनोऽनुकम्पां किमपि कर्त्तुं न प्रभवति। अनुकम्पयैव मुक्तिं लभते, तदनुकम्पा च भक्तिसाध्या, परमा भक्तिश्च ज्ञानोदयादेवोदेति।

अथ शुद्धाद्वैतवाद—प्रतिपादकः पुष्टिमार्ग—प्रवर्त्तको वल्लभाचार्यो दार्शनिकोऽपि विशेष उल्लेखनीयः। अस्याप्यनेके शिष्या आसन्। वाल्लभानां ब्रह्म मायया अलिप्तं नितान्तशुद्धञ्च मायासम्बन्धराहित्येन चाद्वैतम्। अत एव अमीषां ब्रह्म शुद्धा-द्वैतं जेगीयते। वाल्लभा ब्रह्मणः सर्वधर्मविशिष्टत्वमत एव च तस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वं स्वीकुर्वन्ति। 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डल-वत्' (३।२।२७) इति ब्रह्मसूत्रमुपस्थापयन्तश्चेमे ब्रह्मणि अहि-कुण्डलवदुभयरूपतां श्रुतिसिद्धां साधयन्ति। वाल्लभानां जीव-स्तिरोहितानन्दादिगुणः स्वयमीश्वरो ब्रह्मैव। लीलाकैवल्यादेव

स ईश्वरो जीवत्वं प्रतिपद्यते न पुनर्मायोद्वेलितः। वल्लभा निर्गुणं ब्रह्मैव जगद्रूपेण परिणतं मन्यन्ते। यथा केयूरकटकादिषु परिणतमपि काञ्चनं न विकृतिमभ्युपैति, तथैव जगद्रूपेण परिणतमपि ब्रह्म न किञ्चिदपि परिणतिमेतीत्येषां सिद्धान्तः। वल्लभाचार्याणामाचार्यमार्ग एव पुष्टिमार्गः प्रोच्यते। पुष्टि शब्दश्चेमेऽनुग्रहे प्रयुञ्जते। मुक्तिं प्रति प्रमुखकारणता च अनुग्रहस्यैवेति।

एवमात्मब्रह्मचिन्तने विभिन्नप्रस्थाना अपीमे दार्शनिका विरुद्धविचारान् स्थापयन्तोऽपि न मिथो विरुद्धाः कथयितुं शक्यन्ते। अतः सर्वेऽप्येते चिन्तनप्रकारा ब्रह्मप्रासादमाप्तुं सोपानभूता। सर्वेषां दर्शनानां सम्प्रदायाचार्यसिद्धान्तानाञ्च शब्दतोऽर्थतो वा दृश्यमानेऽपि विसंवादे तत्तात्पर्यविषयीभूतेऽर्थे समानाकारत्व एव सर्वेषां पर्यवसानम्। नैव तेषु कश्चन वास्तविको विरोधः। भवतु नाम ब्रह्मस्वरूपमभिलक्ष्य मोक्षस्थितिं वाऽभिलक्ष्य दार्शनिकाना शाब्दिको मतभेदः, किन्तु ब्रह्मज्ञानपुरःसरं मोक्षपथप्रदर्शनमेव सर्वेषां चरममुद्देश्यमिति संवीतिशून्यं वचः। सहैव सर्वेषां दार्शनिकानामात्मब्रह्मचिन्तनादिविचाराः श्रुतिमूलका एव। तत्कथं समानप्रसवानां विचाराणां वैमत्यं वक्तुं शक्यते ? इति।

भगवद्गीता तद्भाष्यमतानि च

नास्त्यत्र स्खलतमोऽपि संशीतिलवो यदिह जनुर्जरामृति-हर्षामर्ष-प्रभृति-विकट-सङ्कट-कोटि-सङ्कुले निरन्तर निरवधिक-परमाधिव्याधि-परम्परा-परिकल्पिते निरवग्रह-ग्रहातिग्रह-ग्राह-सङ्ग्रस्ते त्रिविधताप-सन्ताप-सन्तान-सन्त्रस्ते समस्तेऽपि विधिसर्गे मोमुह्यमानं मानवं समुद्धर्त्तुं भगवता कैटभजिता कृष्णेन परया कृपया समुपदिष्टो वरीवर्त्ति निखिलशास्त्रातिशायी कोऽप्यपूर्वो गीतोपदेशः । यो हि पारावारः श्रुतिसरिताम्, समाश्रयः स्मृतिसम्पदाम्, सद्यः प्रतिकर्ता संसृतिविपदाम्, सन्तण-सेतुर्जगदम्भः-कदम्बानाम्, प्रभवः सकलज्ञानविज्ञानसाधनानाम्, परममवलम्बनञ्च चिदानन्दनिष्ठानां तपोधनानाम् । सत्यं हि देवकीपुत्रगीतं शास्त्रमिदं समेषां प्रत्यगात्मशास्त्राणां मूर्धन्यम्, विश्वधर्मस्य हृदयसर्वस्वम्, विश्वेषां ज्ञातव्यपदार्थानां विज्ञानभूतं, रसायनमिव च तत्त्वज्ञानजिज्ञासूनां प्रीतिजननं बलपुष्टिवर्धनञ्च । ज्ञानविज्ञाननिकषग्राव्णि कषितं शास्त्ररत्नमिदं किमप्यलौकिकं सततं विच्छित्तिविशेषं द्योतयति मध्येविश्वम् । अत एव सर्वेषां शास्त्राणां शिरसि मुकुटद्युतिरिव हृदये च मुक्तालता इव विराजिता देदिवीति गीतेयम् । ततश्चास्याः पुरुषार्थचतुष्टयोपसाधकत्वमवगम्य सम्प्रदायप्रवर्त्तकैः श्रीशङ्कर-रामानुज-वल्लभ-निम्बार्कमध्वप्रभृतिभिराचार्यचरणैराधुनिकैरपि श्रीबालगङ्गाधर-गान्धि-मोपाह्वश्रीमधुसूदनप्रभृतिभिर्विद्वत्पुरन्दरैर्महात्मभिर्जगति जातैः

वर्तमानैश्च प्रायः सर्वैरेव स्वमतं गीताशास्त्रसम्मतं प्रतिस्थापय-द्भिर्भाष्यमस्य शास्त्रस्य व्यतानि। तदिह सम्प्रति परमलघुतमे लेखे समुपलब्धानां भाष्याणां मतजातमुपस्थाप्यते।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः समुपलब्धेषु भाष्येषु सर्वतः प्राक्तनतमं भाष्यं शाङ्करमेव समुच्यते। एतदनुसारं विश्वप्रपञ्चात्मकस्य विश्वस्य निदानं ब्रह्मैव विद्यते। तच्च ब्रह्म निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदैश्च शून्य, देशकालावस्थादिभिरपरिच्छेद्य निरवयवञ्च वरीवर्ति। शाङ्करेण मतेन ब्रह्मणो मायाशक्तिविनैव सृष्टि, तद्भान कारयति, न वस्तुत काचन सृष्टिर्जायते ब्रह्मतः। नापि तद् निर्गुण ब्रह्म प्रपञ्चरूपेण परिणमति। द्रष्टृस्वरूपो जीव ब्रह्मतत्त्वमविज्ञायैव तस्मिन् सर्गप्रपञ्चस्य भ्रमि तन्तनीति। द्रष्टा जीवोऽपि ब्रह्मातिरिक्त पृथग्रूपो नास्ति,किन्तु ब्रह्मणो मायाशक्तेः कारणाद् द्रष्टृज्ञानमाच्छादितं भवति,माया च तं ब्रह्मण्येव कल्पितं प्रपञ्चजातं दर्शयति यावच्च मायाजनिता भ्रान्तिरितष्ठति तावज्जीवः प्रपञ्चसर्गस्य सत्यतां मन्यमानस्तत्र बद्धो भवति। निवृत्तायान्तु भ्रान्त्यां स द्रष्टा जीव. स्वकीयां ब्रह्मरूपतां समेति। ब्रह्मरूपप्राप्तिरेव हि जीवस्य मुक्तिरित्युच्यते। न च कर्मणा कदापि मुक्तिराशङ्कनीया। कर्मणा केवलं चित्तशुद्धिर्जायते, शुद्धे च चित्ते ज्ञानमुदेति, ज्ञानादेव च मुक्तिरिति श्रीशङ्करः। ये केचन शङ्कराचार्यतोऽपि प्राचीनभाष्यकारा ज्ञानकर्मयोगसमुच्चयेन मुक्तिं मन्यन्ते स्म यथास्थानं तेषां ज्ञानकर्मसमुच्चयवादमिमं दूषयता शङ्कराचार्येण कथितं यन्नैव ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो भवितुं शक्यते। यतः कर्म त्वज्ञानस्थितावेव तिष्ठति, न ज्ञानेन साकं कर्मणः सहस्थितिः सुलभा। श्रीमद्भगवद्गीता चेयं मुक्तिमुपदिशति। अतोऽस्याः प्रधानः प्रतिपाद्यविषयः सर्वकर्मपरित्यागपूर्वकं ज्ञानमेव।

यावज्ज्ञानाधिगतिस्तावदेव तत्र स्वधर्मकर्माचरणं प्रतिपादितम्। नासावासीदर्जुनः प्राप्तपूर्णज्ञानः। अत एव भगवता देवकीनन्दनेन प्रथमं तस्मै कर्मोपदेशः प्रदत्तः। एवं हि शङ्करमतानुसारं भगवद्गीतायाः प्रमुखः प्रतिपाद्यविषयः कर्मसंन्यासपूर्वकं ज्ञानयोगोपदेशो वरीवृत्यते।

इदमेव हि शाङ्करमतम् आनन्दगिरि-मधुसूदनसरस्वती-नीलकण्ठप्रभृतयःसुधियः समनुसरन्ति।

श्रीमन्तो रामानुजाचार्या अपि गीतायाः प्रमुखा भाष्यकाराः परिगण्यन्ते। इमे हीश्वरं जीवं प्रकृतिश्चाप्यनादिरूपा मन्यन्ते। एतन्मतानुसारं प्रकृतिजीवावीश्वरस्य शरीरस्थानीयौ, ईश्वरश्चात्मस्वरूपो विनिगद्यते। जीवः प्रकृतिश्च यदा सूक्ष्मदशायां तिष्ठतस्तदा प्रलयावस्थया भूयते स्थूलदशायां च जगत्प्रपञ्चस्थित्या स्थीयते। किन्तु दशाद्वयेनानेन नेश्वरे किमपि परिवर्त्तनं कश्चन भेदो वा जायते। ईश्वर एव ब्रह्मास्ति, स चेश्वरः स्थूल-सूक्ष्मशरीरयोः समानस्तिष्ठति, इदमेव हि अद्वैतरूपम्। जीवस्त्वणुरूपो मुक्तावपि च स ईश्वरात् पृथगेव तिष्ठति। मुक्तावस्थायां च स केवल क्लेशादिबन्धनैर्निर्मुच्यते। ज्ञानकर्मणी एव मुक्तिकारणतां गच्छतः। भगवद्गीताऽपि ज्ञानकर्मणोः समुच्चयं प्रतिपादयति। एवं सत्यपि श्रीरामानुजाचार्यराद्धान्ते भक्तिरेव गरीयसी महीयसी च। इमे महानुभावा आचार्यपादाः सिद्धान्तममुमेवोद्दिश्य स्वकीयं गीताभाष्यमलेखिषुः।

आर्याः श्रीमध्वाचार्या द्वैतवादिनः सुकृतिनः समभिधीयन्ते। इमे हि जगदीश्वरात् सर्वथा भिन्नं सङ्गिरन्ते। ईश्वरो जगतो

निमित्तकारणं न पुनरुपादानकारणम् । एवं जीवोऽपीश्वरात् पृथगेव । बन्ध-मोक्षौ तु तस्यावस्थाविशेषौ वर्त्तेते । किन्तु मुक्तेः कारणमिमेऽपि रामानुजाचार्यवज्ज्ञानकर्मसमुच्चयमेव मन्वते । एवमेव ज्ञानापेक्षया भक्तेः प्राधान्यमेभिरपि स्वीक्रियते । यद्यपि तत्रभवद्भिरेभिराचार्यैर्लिखितं गीताभाष्यं संक्षिप्तमेव किन्तु एषामनुयायिनो मनीषिणो विद्वांसः स्वरचितासु भाष्यव्याख्यासु तेषां मतविलासं बहुविस्तारेण समतन्वन् ।

अथ माधुर्यादिगुणगणपीयूषप्लावितान्तःकरणाः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः शुद्धाद्वैतवादिनः समुदीर्यन्ते । अमीषामपि मते ब्रह्मैव जगत्कारणत्वमापद्यते, परन्तु श्रीशङ्कराचार्यवदिमे संसारं केवलं कल्पनारूपं मिथ्यास्वरूपञ्च नामनन्ति । परमात्मा परब्रह्म स्वेच्छयैव विश्वं रचयति स्वेच्छयैव च स्वात्मनि तद्विलीनं करोति । मायाप्रकृत्यादयस्तु परब्रह्मणो विभिन्नशक्तयः सन्ति, याः परब्रह्मणः समुद्भूतिं भजन्ते । एवं जीवा अपि परब्रह्मणः प्राकट्यं लभन्तेऽणुरूपाश्च ते भवन्ते । भगवतः परमेण अनुग्रहेणैव ते जीवा मुक्तिं प्राप्नुवन्ति । एतदर्थं भगवद्भक्तिरेव जीवस्य प्रमुखं करणीयं कर्म वर्तते।इदमेव च भक्तितत्त्वं श्रीमद्भगवद्गीतायां प्राधान्येन प्रतिपादितमिति श्रीमद्वल्लभाचार्यपादाः।

साम्प्रतं श्रीवल्लभाचार्यनाम्ना गीताया एका टीका प्राप्यते तत्र तदनुयायिनो विद्वांसो विप्रतिपद्यन्ते। किन्तु श्रीवल्लभाचार्यैः श्रीमद्भागवतं पुराणमुद्दिश्य यदत्र लिखितं न तत्र कस्यचन विप्रतिपत्तिः । अतस्तदनुसारमेवैषां मनोऽभिप्रायः सर्व एव स्फुटीभवति ।

श्रीनिम्बार्काचार्यो द्वैताद्वैतवादं मनुते । एतन्मतानुसारि ब्रह्म सृष्टेः पूर्वमेकमेव तिष्ठति, किन्तु सृष्टेरनन्तरं तद् द्वैतं

भवति। अर्थात् सृष्टौ मिथो भिन्ना बहवः पदार्था उत्पद्यन्ते। पृथ्व्यप्तेजोवायुप्रभृतयस्ते परस्परमपि भिन्ना ब्रह्मणोऽपि च भिन्नाः सन्ति। यतस्ते उत्पत्तिविनाशवन्तः सन्ति, ब्रह्म च न कदाप्युत्पद्यते नापि च कदापि नश्यति। मुक्तिविषये त्वयमप्याचार्यो ज्ञानकर्मसमुच्चयं स्वीकुर्वन् मक्ते. प्राधान्यं विवृणोति।

लोकमान्येन तिलकेन मराठीभाषायां लिखितां टीकामपि बहुमन्यन्ते भक्तवन्दारुका भावुकाः। इमे तिलकमहोदया दार्शनिकेषु विषयेषु श्रीशङ्कराचार्यमनुसरन्तोऽपि श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रधान प्रतिपाद्यविषय श्रीशङ्करमतानुगं कर्मसन्यसनमस्वीकृत्य केवलं कर्मयोगमेव प्रत्यपादयन्। श्रीमन्तस्तिलकाचार्याः सर्वथा भिन्नमतमवगाहन्ते श्रीशङ्करतः। यथा चाऽन्येऽप्याचार्या गीतां षट्कत्रये विभजन्ते न तथा तिलकमहाभागाः। एतन्मतानुसारं गीतायां कर्म-भक्ति-ज्ञानानां न पार्थक्येन प्रतिपादनं विद्यते। इमे तु त्रयाणाममीषामेकामेव शृङ्खलां गीतायां स्वीकुर्वन्ति। अर्थाद् एभिः खलु ज्ञानमूलको भक्तिप्रधानः कर्मयोग एव भगवद्गीतायाः प्रतिपाद्यविषयः स्वीकृतः। कर्मयोगस्य साफल्यार्थव गीतायां ज्ञान-भक्त्योरपि प्रतिपादनं जातमिति दिक्।

अथ च धिषण-स्पर्धिधिषणैरस्मद्गुरुचरणैः स्व०श्रीमधुसूदनमैथिलैः स्वकीये गीताविज्ञानभाष्ये कर्म-भक्ति-ज्ञानयोगानां विलक्षणेन वैज्ञानिकेन प्रकारेण समन्वयः समक्रियत। एते हि गीतायां चतुरो योगान् स्वीकुर्वन्ति :—धर्मयोगम्, ज्ञानयोगम्, वैराग्ययोगम्, ऐश्वर्ययोगञ्चेति। एषामयमस्ति सिद्धान्तो यत् साङ्ख्यशास्त्रे बुद्धेर्यानि वैराग्यं, ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेति चत्वारि सात्त्विकरूपाणि प्रतिपादितानि वर्तन्ते, रागद्वेषौ, संमोहः,

अस्मिता, अभिनिवेशश्चेति यानि चत्वारि बुद्धेस्तामसरूपाणि प्रदृष्टानि सन्ति तेषु सात्त्विकरूपैरेव भगवतोऽव्ययपुरुषस्य लब्धिर्भवति । यतो भगवति परमात्मनि परमेश्वरे धर्मः, ज्ञानम्, वैराग्यम्, ऐश्वर्यञ्चेति चत्वारि एव बुद्धेः सात्त्विकरूपाणि विद्यन्ते- एभिश्चतुर्भी रूपैरेव प्राप्तस्वरूपः स भगवानितिशब्द-वाच्यो भवति । यथाहि—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

पद्येऽत्र धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्यैः सात्त्विकरूपैः सह यशो लक्ष्मीश्चेत्युभयमपि गृहीतं जायते । किन्तु द्वयमपीदं धर्मैश्वर्ययोरवान्तर्भूतम् । नानयोः किमपि पृथक्स्वरूपम् । यस्मिश्चेमानि रूपाणि भवेयु स एव भगवानिति शास्त्राणि प्रमाणम् । अथैतद्विपरीतानि अधर्म ,अज्ञानम्,अवैराग्यम्,अनैश्वर्यञ्चेति यानि चत्वारि बुद्धेस्तामसरूपाणि वर्तन्ते तेष्ववैराग्यमेव रागद्वेष-नाम्ना संगृह्य शास्त्रैः पञ्च क्लेशा निरूपिताः । ते चैव अविद्या,अस्मिता, रागः, द्वेषः, अभिनिवेशश्चेति पञ्च पञ्चजनैरभिधीयन्ते । पञ्चानामेषामविद्या त्वज्ञानमेव, अस्मिताऽप्यनैश्वर्यान्न भिन्नस्वरूपा । अवैराग्यञ्च रागद्वेषनाम्ना प्रतिपादितम्, अधर्म एव चाभिनिवेशोऽस्ति । एते पञ्च क्लेशा ये हि बुद्धेस्तामसरूपाणि वर्तन्ते ते नेश्वरे सर्वथैव भवन्ति परन्तु जीवेषु सर्वथैव तिष्ठन्ति। जीवोऽयं तामसरूपाणां परित्यागपूर्वकं सात्त्विकरूपाणामाश्रयेणैवेश्वरं प्राप्तुं शक्नोति, नान्यः पन्था विद्यते तदधिगत्यै । चतुर्णामेषां सात्त्विकरूपाणां प्राप्त्यर्थमेव आचार्येण कृष्णेन गीतायां चत्वारो योगाः समुपदिष्टाः । तत्र हि गीतायाः प्रथमेऽध्यायषट्के 'वैराग्ययोगो'भाषितः । अस्मिन् योगे विरक्तेन सता कर्मकरणस्य

विधिः प्रदिष्टः। अत एवायं योगो वैराग्ययोगोऽभिहितः। योगोऽयं राजर्षिविद्याख्ययापि विख्यातः। यतोऽसावुपदेशो राजर्षिषु लब्धप्रसर आसीत्। कालक्रमेण सेयं विद्या नष्टा, पुनः सैवार्जुनाय दत्ता कृष्णेनेति चतुर्थेऽध्याये स्पष्टम्।

अथाग्रिमेऽध्यायद्वये 'ज्ञानयोगो' विद्यते। सिद्धजनेषु प्रचलितत्वाद् योगोऽयं सिद्धविद्यानामधेयेनापि प्रसिद्धः। "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" (७।३) एतेनेदमपि सिध्यति यदात्मज्ञानिनो हि सिद्धाः कथ्यन्ते स्म। परं नात्र सेयं सिद्धविद्या विस्तृतरूपेण प्रतिपादिता।

अथ च नवमाध्यायादारभ्य द्वादशाध्यायपर्यन्तम् 'ऐश्वर्ययोगो' वर्णितोऽस्ति। योगोऽयं कृष्णेन 'राजविद्या' ऽभिधयाऽभिहितः। भक्तेः प्राधान्येन सर्वासां विद्यानां प्रमुखं स्थानमस्याः। अत एवेयं राजविद्येत्युच्यते। भक्तेश्च सम्बन्ध ईश्वरभावेन चैश्वर्यभावेनैवास्ति। ईश्वरसम्बन्धादेवायमैश्वर्ययोगनाम्ना योगः प्रथितः।

अथान्तिमेषु षट्स्वध्यायेषु 'धर्मयोगो' निरूपितः। ऋषिभिर्वर्णितत्वादयं मार्गश्चार्षविद्येत्यकथ्यत। अत एव भगवतोक्तम्– "ऋषिभिर्बहुधा गीतम्" इति (१३)। यद्यप्येष्वन्तिमेषु षट्स्वध्यायेष्वात्मनिरूपणमेव प्रधानमिवावलोक्यते, किन्त्वात्मनिरूपणं न धर्ममन्तरा किमप्यन्यद् वस्तु। नैवात्मज्ञानं विना धर्मनिरूपणं कर्तुं शक्यते। अध्यात्मतत्त्वमाधारीकृत्यैव धर्माधर्मव्यवस्था क्रियते शास्त्रैः। अतो धर्मयोगे आत्मनिरूपणं नास्वाभाविकम्। गुणत्रयवतां जगतां कृते आहारविहारादिव्यवस्था तु पृथक्पृथग् रूपेणान्तिमेष्वध्यायेषु वर्णितैव कृष्णेनेति साऽपि धर्मनिरूपणरूपैव। अत एवास्य धर्मयोगता सुसङ्गतैवेति।

एवं बुद्धेश्चतुर्णामपि रूपाणां विकासक्रमेणेश्वरे विलयनक्रमो गीतायाः प्रधानः प्रतिपाद्यविषयः । अतः कथयितुं शक्यते यद् गुरुवराणां मैथिलमहाभागानां मतानुसारं गीतायाः प्रमुखः प्रतिपाद्यविषयो बुद्धियोग एव । तस्मादेव स्वयं गीताचार्येण भगवता कृष्णेन गीतायां बहुशः बुद्धियोगशब्दः प्रायुज्यत । यद्यपि तत्र तत्र बुद्धियोगशब्दस्य भाष्यकारैः प्रायो ज्ञानयोगार्थोऽङ्गीकृत किन्तु बुद्धियोगस्यायमर्थः सङ्कुचितः । बुद्धिपदेन बुद्धेश्चत्वारि स्वरूपाण्येव ग्राह्याणि। गृहीतेषु च तेषु स्वरूपेषु कर्म-ज्ञान-भक्ति-योगादयः सर्व एवार्थाः स्वतस्तत्र समाविशन्ति। स्वाधिकारानुसारं मानवश्चतुर्षु योगेषु कमप्येकं योगं प्रधानरूपेण लक्ष्यीकृत्यान्यानपि योगांश्च सहरूपेण स्वीकृत्येश्वरं प्राप्तुं प्रभवतीति श्रीमद्गुरुचरणाः ।

एवममीषां समेषां गीताभाष्यकारविदुषां मतपर्यालोचनेनेममेव निष्कर्षबिन्दुं बुद्धिः स्पृशति यच्छ्रीमैथिलमहाभागानामेव सिद्धान्तः सुगमः सरलः परमयुक्तियुक्तश्च। स्वीकृते ह्यस्मिन् सिद्धान्ते न पुनः कश्चन विवादस्तिष्ठति। यतः प्रधानेऽत्र विशालक्षेत्रेऽन्ये सर्वेऽपि योगा अन्तर्भवन्तीति शम् ।

गोविन्दस्य भगवद्रूपता

इतिहासपुराणादीनि निखिलानि शास्त्राणि सर्वे च सम्प्रदायप्रवर्तका आचार्या निर्विवादमिहैकमत्यमावहन्ति यत् परात्परोऽव्ययपरमेश्वर एव भूभारमपहर्तुं धर्मञ्चोद्धर्तुं श्रीकृष्णरूपेण भूमाववततार । असावेव श्रीकृष्ण आत्मनोविभिन्नैः रूपकर्मादिभिः गोविन्दः, अच्युतः, दामोदरः, कंसारिः, विहारी इत्यादिभिरनेकैर्नामभिर्विख्याति यातः । प्रस्तुतेऽत्र लेखेऽसौ गोविन्दनाम्नैव निर्देश्यते ।

गोविन्दशब्दस्य व्युत्पत्ति प्रदर्शयन्तो वैयाकरणास्तावत् कथयन्ति यद् गाः=धेनूर्विन्दति इति गोविन्दः । अनेन गोविन्दशब्देन सह भगवच्छब्दं संयोज्य वन्दारवः श्रद्धालवः सर्वे गोविन्दभगवान् अथवा भगवान् गोविन्दः इति रूपेण तं स्मरन्ति परमेश्वरम् । साम्प्रतमिदमस्तीह विचारणीयं यद् गोविन्देन साकं भगवच्छब्दः कियदौचित्यं सार्थकत्वञ्च बिभर्ति ।

भगशब्दात् तदस्यास्त्यस्मिन्निति (पा.सू. ५.२.९४) मतुप्-प्रत्यये कृते गोविन्दशब्दो निष्पद्यते । यस्यार्थो भवति भगसम्पन्नो भगयुक्तो भगोपेतो वा । अत्र कतिचन बालिशा भगशब्दस्य प्रचलितमश्लीलत्वव्यञ्जकमर्थं गृहीत्वा परमाराध्यानामस्माकं देवानां देवतानाञ्चानादरं वितन्वन्तः सर्वान् समुपास्याननुपहसन्ति

किन्तु परमार्थतस्तेषामिदं शास्त्रानभिज्ञत्वमज्ञानविजृम्भित-मात्रञ्च। शास्त्रानुसारं भगशब्दोऽयं षड्विधमैश्वर्यं धर्मं यशः श्रियं ज्ञानं वैराग्यञ्चेति षड्विधा दैवीं सम्पत्ति प्रकटयति। यथा चोक्तमभियुक्तैः—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ इति

उपर्युक्तः परात्परोऽव्ययपरमेश्वरः "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"(श्वेता०उ०६।८)इति श्रौतवचनान्निःसंशयं विविधशक्तिसम्पन्नो विद्यते। परमेश्वरस्य विविधासु परासु शक्तिषु ऐश्वर्याद्या इमाः षट् शक्तयो भगशब्देनाभिधीयन्ते। अत्रैव चान्याः सर्वाः शक्तयः समाविष्टा जायन्ते। अत एव भगवच्छब्दस्य परिभाषां भाषमाणा विद्वांसो भाषन्ते—

> उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्।
> वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥

अयं भावः, यः सृष्टिक्रमं प्रलयक्रमं जगति प्राणिनामागमनं ततो गमनं विद्यामविद्यामर्थात् ज्ञानकर्मणी जानाति स भगवान्।

परमेश्वरोऽयं विश्वस्यैकैकस्मिन्नंशे सर्वत्रात्मस्वरूपेण व्याप्तः सन्नपि योगमायावशादनेकानि रूपाणि धृत्वा तत्रापि परिणतो जायते। तदेव हि तस्य खण्डस्वरूपमंशरूपं वा जीवनाम्ना व्यवहरन्ति महात्मानः। इदमेवोद्दिश्य महर्षिर्बादरायणः प्राह "अंशो नाना व्यपदेशात्" (ब्र० सू० २।३।४३) इति। भगवद्गीतायामपि स्वयं श्रीकृष्णः कथयाञ्चकार—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति।

अस्या योगमायायाः कारणादेव जीवः स्वस्य वास्तविकं रूपं वीक्षितुं न क्षमते। स्वयमव्ययेश्वरो गीताचार्यस्तदेव तत्र वचस्ततान—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत.' इति। दूरीभूते हि योगमायाऽऽवरणे जीवे स्वत एवाव्ययेश्वरस्य पूर्वोक्तानामैश्वर्यादिशक्तीनां तथा प्राकट्यं जायते यथा भस्माच्छादने दूरीभूते वह्नेः, मेघावरणे च विलयङ्गते रविकिरणानाम्। यस्मिन् पुनर्महति जीवात्मनि जन्मकालादेव योगमायावरण स्वतो दूरीभूतं भवति स एव महान् जीवस्तासां पराशक्तीनां भगपदाभिधेयानामुदयाद् भगवानिति कथ्यते। एवंविधा च विशिष्टा जीवात्मनो महापुरुषनाम्ना परमेश्वरावतारारूयया वा विख्याता जायन्ते।

भगत्वं योगमायात्वञ्चेतीमौ मिथः प्रतिद्वन्द्विनौ भावौ वर्त्तेते। वैराग्य, ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेति चत्वार इमे भगाः साङ्ख्यशास्त्रे विद्याबुद्धिनाम्ना स्मर्यन्ते तथा राग-द्वेषौ, संमोहः, अस्मिता अभिनिवेशश्चेति चत्वारोऽविद्याबुद्धिपदवाच्या भवन्ति। एषु वैराग्यवृद्धिद्वारा राग-द्वेषयोः, ज्ञानेन संमोहस्य, ऐश्वर्येण अस्मितायाः, धर्मेण चाभिनिवेशरूपाया अविद्याबुद्धेरावरणं लुप्तीभूय महति तदात्मनि भगवत्ता समुदेति। अनयैव भगलक्षणया सर्वज्ञतयाऽसौ महात्मा अतीतानागतादिकं सर्वं विज्ञाय सृष्टिप्रलयज्ञानकर्मादिकमप्यखिलं प्रत्यक्षमिव पश्यति। अत एव श्रीकृष्णो गोविन्दोऽर्जुनमकथयत्—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ इति।

तदिह पूर्वोक्तानां वैराग्य-ज्ञानैश्वर्यादिभगसम्पदां स्वल्पं स्वरूपविवेचनमपि साम्प्रतं साम्प्रतमेव। आसु षड्विधासु भग-

सम्पत्तिषु पुत्र-कलत्र-राज्यवैभव-प्रभृतिलौकिकसमुन्नतिसम्बद्धासु भौतिकसुखपरम्परासु सर्वथोपेक्षितो बुद्धिभावो वैराग्यशब्देन व्यपदिष्टो भवति। यो वै जन एषु लौकिकवैभवेषु न रमते न वा तत्रात्मबुद्धिभावं बिभर्त्ति निश्चप्रचं स महापुरुषः। सत्यं हि तस्यात्मा विशालः। इयमेव हि भगवत्त्वप्राप्तिः।

द्वितीया भगसम्पत्तिरस्ति ज्ञानम्। यद्यपि स्वल्पोऽधिको वा ज्ञानांशः सर्वेष्वेव जीवेषु तिष्ठति किन्तु न तत्सामान्य ज्ञानं भगकोटिप्रविष्टं ज्ञेयम्। एतदवगन्तु ज्ञानमस्माभिरेवं विभज्यते–द्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान स्मृतिलक्षणज्ञानञ्च। तत्र प्रत्यक्षदृष्टं ज्ञानं प्रथमम्, शब्दग्रन्थजनित ज्ञानञ्च द्वितीयं विद्यते। अनयोः प्रत्यक्ष-दृष्टज्ञानमेव भगशब्देन व्यवहर्तुं शक्यते। यतो ये वै केचन महात्मान आत्मनो दिव्यदृष्ट्या चक्षुरादीन्द्रियशक्तिबहिर्भूतानापि परोक्ष-विषयान् साक्षात्कर्त्तुं प्रभवन्ति त एव ज्ञानिनो महात्मानो भगवत्कोटौ समायान्ति। तानेवोद्दिश्य चोक्तमभियुक्तैः श्रीहरि-भिर्वाक्यपदीये—

> आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम्　।
> अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥
> अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
> ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥ इति।

अथ तृतीया भगसम्पत्तिरैश्वर्यनाम्नाऽऽम्नायते। अस्यां हि स्वतःसिद्धा योगविद्यासमुद्भूता वा अणिमा महिमा इत्याद्या अष्टौ सिद्धयः, भूतभविष्यज्ज्ञान–भुवनज्ञानप्रभृतयो योगसिद्धयः, देवप्रत्यक्षीकरण–विराट्पुरुषदर्शनप्रमुखास्तपोबलसिद्धयः, काय-व्यूह–परकायप्रवेशादिका देवबलसिद्धयस्तथा मृतसञ्जीवनी-प्रभृतिका मन्त्रबलसिद्धयश्चाप्यस्यामेवैश्वर्यभगसम्पदि सम्मि-

लिता:। प्रातिस्विकरूपेण न कश्चन जीवोऽणुतोऽणुरूपं ग्रहीतुं शक्नोति, न वा महतो महद्रूपं प्राप्तुं प्रभवति। जीवात्मा स्वशक्त्या तावानेव तिष्ठति यावती स आत्मशक्तिं स्वतो बिभर्त्ति। यदि पुनः कश्चिज्जीवः स्वत एव सर्वविधं स्वरूपं प्राप्तुं प्रभवति, उपर्युक्ताः शक्तीश्च जन्मनो बिभर्त्ति तर्हि न स प्राणी साधारणो जीवः। अवश्यं स तद्विधभगसम्पत्कारणाद्भगवन्नाम्ना ईश्वरनाम्ना वा सम्बोध्यते।

तुरीया भगसम्पद् धर्मामिधयाऽभिहिता भवति। यद्यपि साधारणो जनो देवदर्शन-तीर्थभ्रमण-व्रतोपवासाचरण-दानकरण-श्राद्धादिकर्माण्येव केवलं धर्मपरिवारे प्रविष्टानि जानाति, परं नासौ धर्मः कतिपयेष्वेवैतेषु कर्मसु खल्वात्मानं बध्नाति। धर्मे तु कल्याणाभ्युदयसिद्धिर्निहिता भवति। यथोक्तं वैशेपिकदर्शने-"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इति। भगवान्वेदोऽपि तदेव मनुते-"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" (तै० आ०) इति। अर्थाद् धर्म एव सम्पूर्णसंसारस्य प्रतिष्ठा निहिताऽस्ति। यावद्धर्मः सुरक्षितोऽस्ति तावद्धर्मिणः स्वरूपमपि सुरक्षितं भवति। धर्मिणा धृतो धर्म एव तं धर्मिणं धारयति। यदि धर्मः परित्यज्यते तर्हि स धर्मस्तस्य स्वरूपमपि विलोपयति। अत एवोच्यते—

यो धृतः सन् धारयते स धर्म इति कथ्यते।
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः॥ इति।

ईदृग्विधं धर्मं प्रति यस्य सहजा प्रवृत्तिर्भवेदवश्यं तेन भगसम्पत्तिसम्पन्नेन भाव्यम्। उपर्युक्तानामेषां चतुर्णां भगानां गणाना विद्यावृद्धियोगे जायते।

अथ पञ्चमो भगो यशोनाम्नाऽभिधीयते। ऐतरेयब्राह्मणे रेतः, श्रद्धा यशश्चेति त्रितयं चन्द्रमसोः 'मनोता' इत्याम्नातं विद्यते। चन्द्रसम्पर्कत्वेनैवेदं सौम्यमस्ति। यस्यां व्यक्तौ विमे सौम्यप्राणा यावन्तोऽधिका भवन्ति तावतीव सा व्यक्तिः सौम्यस्वरूपा यशस्विनी वीर्यवती च भवति। एतन्निधानाद्धि च सा भगवत्पदाभिधेया जायते।

अन्तिमाऽथ भगसम्पत्तिः श्रीशब्देन व्यवह्रियते। शारीरिकीं सम्पत्तिञ्च श्रीशब्देन स्वीकुर्वन्ति जगन्ति। यस्मिन् खलु प्राणिनि प्रातिस्विकरूपेण सातिशयं श्रीसांनिध्यं भवति निश्चप्रचमसौ भगवत्परम्परायामायातीति। साम्प्रतमिहेदमपि विचारणीयमस्ति यदस्माकं वन्दनीये गोविन्दे भगवद्रूपत्वसम्पादिका इमा भगसम्पद आसन् वा, अथवा कियति परिमाणे ता अवर्तिषतेति। तत्र सर्वप्रथमं वैराग्यं विलोकनीयम्। यः खलु गोविन्दः कृष्णो वैराग्यवृद्धियोगमूलाया राजर्षिविद्याया उपदेशेन घनश्यामं रागद्वेषघूर्णं चकार तस्य महामहोपदेशकस्य गोविन्ददेवस्य वैराग्यपारावारस्य गम्भीरतां को वै जनोऽनुमातुं शक्नोति। यस्य सिद्धान्त एवायमासीत्—"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि" इति। तत्कथयितुं शक्यते यद् गोविन्दे देवे वैराग्यभगस्य भाग्यस्य नास्ति स्वल्पतमोऽप्यभावः।

ज्ञानभगसम्पद्विषये त्वस्य गीताग्रन्थः सर्वशास्त्रेषु दीव्यायते। तस्य ज्ञानगीतामहार्णवस्यालोडनं वितन्वन्तः सन्तः सततं परिश्रम्यापि नाद्य यावत्तद्रहस्यं विनिश्चेतुमशक्नुवन्। कथं तस्य ज्ञानभगसम्पत्तिरनुमीयताम्? निश्चप्रचं स कोऽप्यपूर्वो ज्ञानवैभवसम्पन्नो वरीवर्त्ति।

वन्दनीयस्य गोविन्दस्यैश्वर्यनाम्नी भगसम्पदपि काऽप्य-पूर्वैव । जन्मकालादेवामुष्य कर्माणि लोकोत्तराणि जेगीयन्ते । पूतनापातनं कालियदमनं यमलार्जुनोद्धरणं गोवर्धनधारणं कंसचाणूरादिमर्दनमित्यादीनि तस्य परमाश्चर्यकृन्ति महान्ति कार्याणि परमैश्वर्यभगसम्पत्त्याः प्रमाणभूतानि वर्त्तन्ते ।

अथ धर्मसम्पत्तेस्तु सोऽयमवतार एव कथ्यते। एष सदालोका-भ्युदयमुद्दिश्यैव निखिलकार्येषु प्रावर्त्तत। लीलासु अस्य सर्वासु श्री-भावस्य लोककल्याणभावना निहिताः सन्ति । एवमेवायं यशोभाव-स्य चापि परमाश्रय आसीत् । रूपश्रिया स्वयं साक्षान्मन्मथमन्मथः कथ्यते । यशोलक्ष्म्याश्चाप्यपारोऽयमकूपारो वर्वर्त्ति । अतोऽस्मिन् सम्बन्धे नाधिकं वाच्यम् । एवमव्ययपरमेश्वरस्य पूर्णावतारे गोविन्दे सर्वासां भगसम्पदां संस्थित्या न तस्य भगवद्रूपतायां स्वल्पोऽपि संशयः कर्त्तुं शक्यते ।

परमिह प्रश्नोऽयं समुदेति यदेतासु भगसम्पत्तिषु कतिचन सम्पत्तयस्तु न्यूनाधिकरूपेण बहुषु महापुरुषेष्वपि प्राप्यन्त एव । अत एव च नृसिंह–वराहादयः सर्वे ईश्वरावतारा व्यास-कपिल-गौतमप्रभृतयो महर्षयश्च भगवच्छब्दपूर्वकं स्मर्यन्ते । अस्यां स्थितौ गोविन्दस्यापि परमाराध्यस्य भगवच्छब्दविशेषणं न तस्य किमपि वैशिष्ट्यं प्रकटयति । अतो नैतेन स किमप्यसामान्यं भगवत्त्वमवलम्बते । किन्त्वस्य प्रश्नस्योत्तरं महामुनिना व्यासेन पूर्वमेव व्यलेखि—कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति । अर्थादन्याव-तारेभ्यो महापुरुषेभ्यश्च श्रीकृष्णे गोविन्दे भगवत्त्वं पूर्णरूपेण विराजते—इति । कारणमस्येदमस्ति यच्छ्रीमति गोविन्दे वैराग्यं ज्ञानम् ऐश्वर्यं धर्मश्चेति चतसृणामपि बुद्धियोगनिष्ठानां पूर्ण-प्रतिष्ठया सह यशःसम्पत्त्याः श्रीसम्पत्त्याश्चापि पूर्णमाधान-

प्रवर्तते, यद्धि कुत्राप्यन्यत्रावतारेषु महापुरुषेषु वा समष्टिरूपेण सर्वथा नोपलभ्यते। अतोऽयमेव शास्त्रेषु "अच्युत" शब्देन व्यवहृतो भवति। यतो बुद्धियोगनिष्ठत्वाच्युतभावं प्रति कारणत्वं फलयति। अमीषां चतुर्णां बुद्धियोगानां समष्टेरभावे स्वच्युतत्वं भगवत्त्वं चोत्पद्यत एव न। नापि चैषामभावे बुद्धियोगस्य प्रतिद्वन्द्विनो रागद्वेषादयो भावा दूरीभवन्ति। इदमप्यवितथं वर्त्तते यदेतेषां बुद्धियोगप्रतिद्वन्द्विनां रागद्वेषादिदोषाणां यावदेकोऽपि तिष्ठति न तावत् पूर्णत्वं प्राप्तुं शक्यते केनापि। पूर्णत्वमन्तरेण च पूर्णात्वमन्तरेण न कश्चन भवितुं शक्नोति। परमस्माकं सुन्दरवदनारविन्दे गोविन्दे तु चतुर्णामेषां बुद्धियोगानां पूर्णो विकास आसीत्। अत एवास्यावतारस्य पूर्णत्वं निरीक्ष्य, परीक्ष्य समनुभूय च व्यासस्तदिदं लेखितुं विवशोऽभूद् यत्कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति। अतो भगवच्छब्दाभिधेयानामन्यान्यावताराणामपेक्षया श्रीगोविन्दस्य भगवद्रूपता किमपि वैशिष्ट्य बिभर्त्तीति।

साहित्यस्य सार्वभौमराज्यम्

साहित्यं नाम सकलसुखसाम्राज्यसाधनं निरवधिकदुःख-राहित्यनिदानम् अलौकिकानान्दकारणं कल्पलताकल्पं किमप्य-पूर्वमेव वस्तु वरीवर्त्ति मध्येजगत् । दिवादिगणीयात्तृप्त्यर्थक-तृपधातोः क्तप्रत्यये सहितं=तृप्तं, तस्य भावः साहित्यम् । तृप्तिर्हि फलाभिलाषशून्यता, अलौकिकानन्दे च तदनुभूतिः । अतोऽलौकिकानन्दकरं साहित्यमिति फलितोऽर्थः । अथवा हितेन सह वर्त्तते -इति सहितं, सहितस्य भावः साहित्यम् । तदध्येतॄणां तदुपासकानां तदवलम्बिनाञ्चाभिलाषपूर्त्तिरेव हितं,तदवाप्तिश्च तत्तद्ग्रन्थानामध्ययनेनानुभूयत एव । साहित्येऽथ भोगमोक्ष-फलप्रदाः सर्वविधा ग्रन्था उपलभ्यन्ते । उक्तञ्चाभियुक्तैः—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्त्ति पुण्यञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥इति ।

अतः सर्वविधविषयाणां समुच्चयेन हितजनकत्वादिदं साहित्यं नाम विभर्त्ति । किंवा सहितस्य भावः साहित्यम् । यत्र हि काव्य-व्याकरण-दर्शन-नीति-रसालङ्कार-पुराणेतिहासादयः सर्वे विषयाः स्युस्तत्साहित्यम् । यद्यपि सर्वेषां विषयाणां ग्रन्थ-समूह एव साहित्यपदं लभते तथापि साहित्यमिति व्यपदेशः काव्यादिललितपदबन्ध एव निरूढः । प्रकृते चात्र साहित्यशब्देन सलक्षणं लक्ष्यञ्चोभयं गृहीतं भवति । तेन लक्षणकोटिगताः

काव्यप्रकाश-रसगङ्गाधरप्रभृतयो लक्ष्यकोटिगताश्च रघुवंश-मुद्राराक्षस-प्रभृतयो ग्रन्था यथायथं गृह्यन्ते ।

काव्यप्रकाश-रघुवंशादिषु साहित्यपदस्य निरुक्तत्वे हेतुरयं प्रतीयते यद् व्याकरणे केवलं शब्द-धातुनिर्माणादिप्रकार एव, तत्र न रसो नैवालङ्कारो नापि च ध्वनिव्यवहारः। दर्शनेषु स्वात्मचिन्तनमेव प्रधानसिंहासनमधितिष्ठति, कुतस्तावत्तत्र काव्यविच्छित्तिः ? एवं सर्वत्रैव विषयेषु तत्तद्विषयाणां प्राधान्यं, किन्तु काव्यादिग्रन्थेषु तु व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं दर्शनानि राजनीतिः पुराणेतिहासादयः सर्व एव विषया विलसन्तीति न तिरोहितं तद्विदाम् । अत एव सहितत्वात्साहित्यमित्यपि तन्नाम सार्थकमेव । इदमेव च साहित्यमेकमात्रं मानवसभ्यता-संस्कृति-स्वाधीनतादीनां विकासस्य सरलं साधनम् । अनेनैव राष्ट्रे समाजे जातौ व्यक्तौ च नवीनं जीवनं जरीजृम्भ्यमाणं विराजमानं विलसति । अत्रैव देशसमाजादीनामुत्कर्षापकर्षयोः सामाजिक-रीति-नीतीनां जातीय-विचारव्यवहाराणाञ्च दर्शनं जायते । अत एव साहित्यं देश-जाति-समाजानां दर्पणःइत्यभिधीयते धीमद्भिः। अथ च—

> पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्ग-मिश्रिताः ।
> वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इत्यादिना यद्यपि योगियाज्ञवल्क्येन चतुर्दशत्वं निरधारि विद्यास्थानानां, परत्र च तेषामष्टादशताऽपि समादेशि, कुत्रापि च साहित्यस्य नाम नालेखि केनापि । परं नैतदेव परिसङ्ख्यानम् । विद्यास्थानानि त्ववान्तरभेद-सद्भेद-प्रभेदैः पारेसहस्रं भवन्तीति सर्वविदितम् । तेष्वेव साहित्यस्यापि समाधानम् ।

अथवा 'सहितस्य भावः साहित्यम्' इत्यत्र चतुर्दशसङ्ख्ययाऽष्टादशसङ्ख्यया वा प्रस्थानभेदैर्भिन्नानां विद्यानां सहभावद्योतनात्, यद्वा 'सहितस्य धर्मं साहित्यम्' इति व्युत्पत्तौ समीक्ष्यमाणस्यात्र कविकर्मणः काव्यस्य समस्तविद्या-परिसमाप्तिमत्ताया बोधनात्, तथा –

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवे. ॥

इति भामहाचार्योक्तिदिशा च यावद्विद्यानां काव्यानुशासकसाहित्याङ्गत्वं सिद्धमेव । अथवा समस्तविद्यासहकारिणोऽस्य साहित्यस्य जगति ब्रह्मवत् सर्वत्र सकलविद्यासु व्यापकत्वेनावस्थानान्न पृथग्व्यपदेशः । अत एव "पञ्चमी साहित्यविद्या, सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्द इति यायावरीयः" इत्याप्तानामुक्तिः, "भारतं पञ्चमो वेदः" इतिवत्सङ्गच्छते । तस्मान्निखिलविद्यानां साहित्ये समावेशाच्चतसृषु चतुर्दशस्वष्टादशसु वा प्रसिद्धेषु विद्यास्थानेषु न स्फुटतया साहित्यस्य नामग्रहणमकारि सङ्ख्याविद्भिः सङ्ख्यावद्भिः । किं वा साहित्यं हीदं ध्वनिप्रधानं शास्त्रं, नह्येतच्छब्दवाच्यतां सहते । अतो व्यङ्ग्यमर्यादयैवास्याभिव्यक्तिर्व्यतानि शास्त्रकारैरित्यप्यवगच्छन्तु विद्याकौमुदीजीवञ्जीवा जीवस्पर्धिप्रज्ञा विज्ञाः ।

शास्त्रं खलु शास्तीति निर्वचनेन शासनकर्तृत्वादयं रसब्रह्मप्रतिपादकः साहित्यविषयो न केवलं शास्त्रराज एव प्रत्युतात्मनोऽप्रतिमेन प्रतिभाबलेन, अनन्यलभ्येन हृदयौदार्येण, नैसर्गिकेण कारुण्याकूपारपूरेण, सर्वजनाभिलषितेन शब्दमाधुर्येण ललनालावण्यनिभेन सौन्दर्यसारेण च कोष-च्छन्दो-व्याकृति-

दर्शन-प्रभृतिसमस्तशास्त्रराजानपि नैदनादमन्तरेण निरन्तरं प्रतिपदं नियन्त्रयन्, पन्थानं प्रदर्शयन्, सर्वोपरिपदमधितिष्ठंश्च शास्त्रसार्वभौमविरुदमलङ्कुर्वन् विराजतेतरां नञ्चैवाद्भुतम्। एते सर्वे विषया महाराजाधिराजस्य साहित्यदेवस्य प्रजाभूता-स्तत्पुरः सदा करबद्धास्तदादेशञ्च प्रतीक्षमाणा भीतातिभीताः सेवका इव तिष्ठन्तीति निश्चप्रच खल्वयमीयः कोऽप्यपूर्वः प्रभूतप्रभावः। अत उपस्थाप्यन्तेऽत्रास्य प्रबलप्रताप-परिचायकाः पञ्चषाः प्रसङ्गाः।

तत्र प्रथममवलोकनीयः शब्दकोषशास्त्रोपरि महाराज-स्यास्य प्रभावः। कवितारचनावसरे कवयितुरग्रे शब्दकोष-पर्याय-वाचिनः शब्दान् समानीय समुपस्थापयति शब्दाश्च तेऽहमहमि-कयाऽऽत्मानं प्रस्तुवन्ति, किन्तु साहित्यदेवस्तेषां योग्यतानुपयो-गितामपेक्षाञ्च निपुणं निरीक्ष्य कमप्येकं विचिन्त्यादिशति—पुण्यात्मा केवलमयमेव शब्दोऽत्र प्रतिष्ठाप्राप्तेर्योग्यतां बिभर्तीत्ये-नमनुशासनमाकर्ण्यावशिष्टाः शब्दा न्यक्कृता इव दैवेन न्यग्भूताः भाग्यलूना इव स्वस्वनिलये निलीयन्ते। यथा हि—

तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥

पद्यस्यास्य रचनानेहसि यदा कालिदासस्य संमुखे शिवस्य पर्यायवाचिनः कपालपाणि-पिनाकपाणि-वृषध्वज-दिगम्बर-प्रभृ-तयः सर्वे शब्दाः शब्दकोषेणोपस्थापितास्तदा झटिति साहित्य-प्रभुः कालिदासमनूचीत्—वत्स! सन्त्यपि समानार्थवाचकेषु शब्देष्वेषु केवलमहमिह पिनाकपाणि-शब्दमेव सङ्ग्रहीतुं त्वामादिशामि, नहि मदाज्ञामन्तरेण त्वया कोऽप्यन्यः शब्द-

श्चयनीयः, अन्यथा 'काव्यप्रकाश' नामकस्यास्माकं विधिपुस्तकस्य सप्तमखण्डस्यामुकामुकधारया त्वं दण्डनीयो भविष्यसि। यतोऽत्र शिवस्य सातिशय-दुष्प्रधृष्यत्व-सूचनाय "पिनाकपाणि" शब्द एव समुचितो नान्ये कपालपाणि-दिगम्बरादयो दैन्यद्योतकाः शब्दास्तादृशीं योग्यतां बिभ्रति। एवमेवात्र शङ्करनामसु शिव-मृड-भव-हर-प्रभृतिषु द्विमात्रिकेषु द्व्यक्षरेषु हरणसामर्थ्य-व्यञ्जकत्वाद्धरशब्द एव त्वया प्रयोक्तव्यः। अन्यथात्वे तेनैवापराधेन निग्रहीष्यसे—इति।

अथ पुनः कदाचित्—

द्वय गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

पद्यस्यास्य शब्दयोजनावसरे कोपः साहित्यदेवस्य पिनाकपाणिशब्दे सविशेषं स्नेहमनुग्रहञ्चानुमाय महाराजस्य कृपाभाजनतां लब्धुमिवात्रापि पिनाकपाणिमेव शब्दं विना विचारं प्रास्तावीत्। किन्तु हन्त, महाराजोऽयं वराकं कोपं तिरस्कुर्वन् घनगम्भीरस्वरेणाभाणीद्:— रे बालमते! वक्तृबोद्धव्ययोः प्रकरणमपि न किञ्चिदवगच्छसि? इयमुक्तिस्तपस्यन्तीं हिमसुतां पार्वतीं ब्रह्मचारिवेषेण छलयतः शङ्करस्यात्मनिन्दापरा वर्त्तते, शिवनिन्दायामेवात्र वक्तुस्तात्पर्यम्। पिनाकपाणिपदस्य किंवा पिनाकिशब्दस्य प्रयोगे तु पिनाकवत्तया वीरत्वावगतेर्निन्दा कथं स्यात्? अतोऽत्र नाहं शब्दमिममभिनन्दामि। मदादेशेनेह 'कपालि' शब्दं प्रस्तुहि, यतः कपालि-पिनाकिपदयोरभिधेयोपस्थापनाविशेषेऽपि वीरत्व-द्योतकत्वेन नात्र-पिनाकिपदस्यौचित्यम्, कपालिपदञ्च कपालसम्बन्धकृत-निखिलामङ्गलनिधानत्वदुराचारत्व-स्पर्श-सम्भाषणाद्यनर्हत्वाद्यवगमेन पार्वत्यभिलषि-

तस्य शङ्करस्य बीभत्सालम्बनत्वेन निन्दातिशयं बोधयतीत्यत्रास्यैव पदस्य काव्यानुगुणतेति। श्रुत्वैतत्पराजित इव कोपोऽसावाङ्मुखः परावर्त्तितः, कविना च 'कपालि'-शब्द एव प्रायुज्यत।

सहैव साहित्यदेवो गच्छन्तं कोपं पुनराहूय तं सतर्कं कुर्वन्नाह—कोपमहाशय ! यद्यपि त्वया नामकोपेषु बहवः शब्दाः पुनर्पुंमका: स्वीकृताः, किन्त्वहं मदीये सुखसाम्राज्येऽस्मत्प्रजाजनैरनाहृतेभ्यः शब्देभ्यः कस्यामप्यवस्थायां प्रवेशाज्ञां न दास्यामि। विनाज्ञां प्रविष्टेषु तु तेषु विधिग्रन्थस्य तृतीयधारया 'अप्रयुक्त' नाम्ना दोषदण्डेन दण्डविधानं करिष्यते। एवमेव त्वदधिकारे प्रसिद्धाप्रसिद्धोभयवाचिनः उभयार्थका अपि बहवः शब्दाः सन्ति, परन्तु तेष्वपि मदीये क्षेत्रेऽप्रसिद्धार्थशब्दानां प्रयोगो नैव विधेयः, अन्यथाऽस्मिन्नपराधे निहतार्थदोषदण्डभागमविष्यसि। श्लेषादौ तु विशेषपरिस्थित्या तवायमपराधः क्षंस्यते—इत्यादिश्य तं विसर्जयाम्बभूव। तदिदमस्ति नामकोपोपरि साहित्यदेवस्य नियन्त्रणम्।

अथ साम्प्रतं शास्त्राणां मूर्धन्यपदमधितिष्ठासोर्व्याकरणस्यापि साहित्यानुगामिता विलोकनीया। यद्यपि साहित्यदेवेन व्याकरणशास्त्रस्य कार्यक्षमतां,निष्पक्षपतितां,नीतिनिपुणतां सर्वगामितां,शेमुषीविशेषतां्चावलोक्य तस्य नपुंसकत्वेऽप्यात्मसाम्राज्ये तस्मै प्रधानमन्त्रिपदस्थानमदीयत, किन्तु सहैव गुणिगणनिकषोपलोऽयं देवो व्याकरणं सावधानमपि कुर्वन्नभाणीत् :—व्याकरणमहोदय ! यदि मदीये साम्राज्यक्षेत्रे तव स्वल्पाऽप्युपेक्षा मद्दृष्टिपथमुपैष्यति तर्हि त्वदाश्रितं तत्पदं वाक्यं वा झटिति 'च्युतसंस्कृति' नामकेन महापराध-ध्यञ्जकेन दोषेण निग्रहीष्यामीति त्वया नित्यं सतर्केण भाव्यम्।

एवं साहित्यमहाराजेनानुशिष्टो व्याकरणमहाशयः काव्य-क्षेत्रे विचरन्नेकदा केनचन कविना 'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ते' इति श्लोकार्धसमाप्तौ पृष्टः—श्रीमान् ! व्याकरण-चन्द्र ! किमयं पद्यार्धभागो भवद्दृष्ट्या विशुद्धं स्वरूपं कलयति? तेनोक्तं नात्र काप्यशुद्धिः । प्रतिपदमत्र शाब्दे शास्त्रे नाति-निष्णातानां दृष्ट्यावशुद्ध इव दृश्यमानोऽपि सन्धिविश्लेषः प्रगृह्यता-मूलकत्वात्पाणिनिमुनेः सूत्रानुसारं सर्वथा शुद्ध एवेति । वराकः कविर्व्याकरणवचसा तं शुद्धं मन्यमानः साहित्यदेवायापि न्यवेदयत्, व्याकरणमहाशयस्य समर्थनञ्चावेदयत् । श्रुत्वैतन्महा-राजस्तदाहूय जगाद.—व्याकरण ! यद्यपि मया सन्धि-विषये प्रगृह्यहेतुको विश्लेषः स्वीकृतस्तथाप्येवंविधसन्धिविश्लेषस्या-सकृत्प्रयोगो मम क्षेत्रे दण्डनीयः । तद्गच्छ, न पुनः कदापि विना विचारं कार्यं करणीयम् ।

एवं व्यतीतेषु कतिचन दिवसेषु पुनरेकदा कश्चनान्यः कविर्व्याकरणमहाशयानुमतः श्रीमतः साहित्यदेवस्य संमुखे—

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलाविवेन्दुः ।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्बत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः॥

पद्यमिदं प्रास्तौत् । अपरश्चैकः कविस्तदेव व्याकरणस्य समर्थनं लब्ध्वा महाराजाग्रे—

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्पतते पत्त्रो ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ॥

श्लोकमिममुपास्थापयत् । महाराजः साहित्यदेवः पद्य-द्वयीमिमां विलोक्य झटिति व्याकरणमुपस्थापयितुं तमादिदेश।

उपस्थितेऽथ भीतातिभीते तस्मिन् महाराजेनाव्यत :— रे विचित्रप्रज्ञ मन्त्रिवर्य ! हास्यमायाति त्वद्बुद्धिविलासे। मया पूर्वमेवोक्तं यन्मम कार्यं विना विचारं न कार्यम्। मदीये काव्य-क्षेत्रे विचरणमसिधारास्खलनमस्ति। अहं मन्ये 'तत उदित०' इत्यादिपद्ये स्वनियमानुसारं "लोपः शाकल्यस्य" इति नियमेन विहितस्यापि लोपस्य "आद्गुणः" इत्यनेनोपनियमेन प्राप्तं गुणं प्रति "पूर्वत्रासिद्धम्" इति विशेषनियमप्रभावादसिद्धिविधानाद-सिद्धिहेतुकोऽयं सन्धिविश्लेषः सर्वथा शुद्धः, किन्त्वस्मद्राज्ये स्विदमपि कर्म बन्धनशैथिल्यमुपस्थापयतीति परिहेयोऽयमपि विश्लेषः। यदि सकृदस्य प्रयोगस्तर्हि कथञ्चन त्वं क्षन्तव्यः स्याः।

अथ चापरं 'वेगादुड्डीय०' पद्यं तद्दर्शयित्वा पुनस्तन्न्यक्कु-र्वन्निव प्राह महाराजः :— हन्त हन्त व्याकरणमहाशय ! शब्दसर्जनसमुत्सुकोऽपि वस्तुतस्त्वं नपुंसक एव, किमपि तु नावगच्छसि, समाजभयमपि न चिन्तयसि। अरे ! "चलण्डामर" इत्यत्र सन्धावुत्पन्न—लण्डा—शब्दस्यापभ्रंशविधया पुंव्यञ्जन—व्यञ्जकत्वादश्लीलता किं त्वां न लज्जयति ? अत्रैव च पुनः 'रुचिङ्कुरु' इत्यत्र स्त्रीगुह्याङ्गव्यञ्जक "चिङ्कु" शब्दोत्थस्यापि स्पष्टं दरीदृश्यमानाऽश्लीलता सहृदयानां शिरो नमयति। किञ्चित्तु विचार्य कार्यं करणीयम्। तथाहि, न पुनरत्रेऽसावधानेन स्थातव्यं त्वया। एवं महाराजाज्ञां सुमनोमालामिव शिरसि निधाय प्रस्थातुमुपक्रान्त एव तस्मिन् पुनर्देवस्तदाहूयावोचत् :— शृणु शृणु, भूयोऽपि किञ्चिदनुशासनीयोऽसि। पश्य, यद्यपि सन्धिविषये स्वीकृतस्य 'सा विवक्षामपेक्षते' इति स्वनियमानु-सारं सर्वत्र सन्धिकार्यं नावश्यकं, किन्त्वत्र मर्मको विशेषनियमो

वर्त्तते—"नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्" इत्यस्मादनुशासनात्पद्ये सन्धेर्नित्यत्वं न त्वया विस्मरणीयम्। एतन्नियमोल्लङ्घनादपि दण्डनीयो भविष्यसि । एवं निपुणं सन्दिश्य प्रस्थापितो व्याकरणमहाशयः पुनः कदाचित् कमनीये काव्यकानने विचरन् केनचन कविना सन्दब्धां—

"पुना रम्या निशा बाले मधुरा मा कृथा वृथा ॥"
"धीरो वीरो नरो याति युद्धे सिंहो यथा वने ॥"

पद्यार्धद्वयीमिमां शुद्धरूपेण स्वीकृत्य देवादेशपालनमनुमाय पुरस्कारपरिलिप्सया स्वयमेव महाराजस्य सेवायामनैषीत्, किन्तु हहो तदवलोकनसमकालमेव महाराजः क्रुद्धः सन्नपि स्मयमान इव तदवादीत्—हंहो वृथापुष्ट व्याकरण ! 'पुना रम्या निशा बाले॰ इत्यादिपद्यांशोऽयं यद्यपि 'रोरि' प्रभृतिसूत्रानुसारं त्वद्दृष्ट्या शुद्ध एव किन्तु बालवुद्धे ! मदीये माधुर्यसाम्राज्ये त्वेकान्ततो विसर्गाणां लोपोऽपि सहृदयानां मानसे विकृत्युत्पादनादपराधकोटौ समायाति । अपि जानासि ? अस्मिन्नपराधे लुप्तविसर्गाभिधेन दोषेण दण्ड्यतेऽपराधी । एवमेव 'धीरो वीरो नरो याति॰' इत्यंशोऽपि त्वदीयेन "हशि च" "अतो रोरप्लुतादप्लुते" इत्यादिनियमेन तु नैव दुष्टः, परं मम रसमये विषये स्वयमप्यसकृत्पातेन दोषमेवोत्पादयतीत्यत्राप्यस्माकं विधिग्रन्थस्यामुकामुकधारया 'आहतविसर्ग' नामकदोषारोपणस्य दण्डस्य विधानमस्ति । यमकादिप्रसङ्गे त्वस्माकं विशेषाज्ञयाऽत्र ादानमपि क्रियते । प्रसङ्गेऽत्रेदमपि त्वामवगमयामि यत्पद्ये रन्तर्येण विसर्गप्रयोगोऽपि न मह्यं रोचते । अतः सर्वथा मम त्रेऽग्रे विचार्यैव पदं निधेयम्, अन्यथा मन्त्रिपदमिदमाहरिष्यामीत्यादिश्य तत् प्राहिणोत् । एवं भूयोऽपि तिरस्कृत उद्विग्न-

चेता व्याकरणमहाशयः स्वस्थानमुपेत्य यावत् मुखवासं गृह्णाति तावदेवान्यः कश्चन कविः—

'उर्ध्वंसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः'

इति पद्यार्धं रचयित्वा तच्छुद्धतायां मन्त्रिमहोदयमनुमतिं याचमान उपतस्थौ। व्याकरणेन मन्त्रिणा विचारितं यदस्मिन् पद्यार्धे नासकृत् प्रगृह्यतामूलकः सन्धिविश्लेषो नाप्यसिद्धिहेतुकः सन्धिविश्लेषो, नैवाश्लीलत्वव्यञ्जकः सन्धिप्रयोगः, नापि चात्र लुप्तविसर्गादय एव दोषाः। अतः सर्वथा शुद्धतमैषा रचनेति निश्चित्य मनसि मोदमानः स्वामिसकाशादुपहारं लिप्समानश्चाविलम्ब्यमेव कविना सह साहित्यराजसभायामुपस्थाय महाराजाय स्वयं हि तं पद्यार्धं वाचयित्वा न्यवेदयत्। श्रुत्वैतन्महाराजस्तदा सभाछात्रैः कुञ्चितं तिर्यग् विलोक्य पद्यारचनमाशिखपादञ्च व्याकरणमहाशयं घूर्णयन् मेघगम्भीरया गिरा न्यगदीत् :— महाशय! मम मन्त्रिपदनिर्वाहः परमदुष्करः। ममेदं क्षेत्रं सुमनोमयम्। अत्र स्वल्पमप्यनामञ्जस्यं दुनोति चेतश्चेतस्विनामतोऽत्र सन्धि-कष्टतामपि नाहं सहे। पश्य, रूक्षो वैयाकरणो यत्र 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' इति वाक्यं व्याहरन् सहृदयहृदयेषु शङ्कुमिव निखनति तत्र साहित्यविरसज्जन इममेव भावं 'नीरस—तरुरिह विलसति पुरतः' अनेन वाक्येन प्रकटयन् पीयूषविप्रुषः सिञ्चन्निवानुभूयते। अतः कोमलकान्तपदावलीनामेवात्र प्राधान्यमवच्छेः। एवं सुचिरं स्वामिसन्देशं श्रुत्वाऽन्यमना गेहमुपागते व्याकरणे व्यतीतेषु कतिपयदिवसेषु पुनरन्यः कश्चिद् कविः :— "पीतेषु कर्णमादरो बोतमत्कुमसा मृगी" इत्यादिकं पद्यं नीत्वा व्याकरणमहानुभावं प्रादर्शयत्तदनुमतिञ्चा-

यावत्। क्त्वो-स्य व्याकरणस्य वीक्षणे नात्र काप्यशुद्धिः समायातेत्येष वराकोऽस्यापि शुद्धत्वे स्वानुमतिं प्रकटयामास। कविस्तु तच्छुद्धं मन्यमानो यथावसरं महाराजमपि दर्शयाम्बभूव। मन्त्रिमहोदयस्यानुमतिमपि च कथयाम्बभूव। दृष्टमात्रे हि तस्मिन् देव आसन्नपरिचारकं कोपमाहूय विहसन्नाह—हंहो, कीदृशोऽयमस्ति स्थूलधिषणो व्याकरणमहाशयः ? अनेकधा बोधितोऽपि न किमप्यवगच्छति। समानयनीयोऽसौ मम सभायां साम्प्रतमेव। तदादेशात्समुपस्थिते तस्मिन् साहित्यदेवस्तं भूयोऽपि लज्जयन्नवोचत् :—महाशय ! त्वमिदमपि न जानासि यदत्राङ्पूर्वो डुदाञ्धातुर्दानार्थेऽवाचकः। ईदृग्विधेष्वपराधेषु त्वम् "अवाचकत्व" दोषेण निग्रहीष्यसे। एतदतिरिक्तमित्यप्यवधेयम् यद्यपि धातूनामनेकेऽर्थाः स्वीकृताः सन्ति, तथापि मदीये सुम-सौकुमार्ये साम्राज्ये तु सर्वत्र जनतासु प्रचलिता एव धात्वर्थाः स्वीकार्या भविष्यन्ति। अन्यथात्वे—

सज्जानन्नमुखी बाला लावण्यामृतवापिका।
मन्दं मन्दं सखीवाक्यैरुपहन्ति प्रियं निशि॥

इत्यादिषु स्थलेषु त्वम्'असमर्थ'नाम्ना दोषेण दण्डयिष्यसे। यतोऽत्र हन्तीति पदं गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्। यदि पुनरग्रे कदाचित्स्वकीये कर्मणि तव त्रुटिरवलोकयिष्यते तर्हि निश्चप्रचं त्वं मन्त्रिपदात्प्रच्यावयिष्यसे। बहुवारं त्वामबोधिषम्, न भूयः कदापीदृश्युपेक्षा करणीया। तत्सम्प्रति गच्छेति सर्व-समक्षमेवं पदे पदे न्यक्कृतो वराको व्याकरण-महाशयः स्वानि भाग्यानि निन्दन् 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' इति पद्यांशं मनसि साम्रेडं व्याहरन् स्वकीयमावासमुपेत्य विषण्ण-

वदनः खट्वायां सुचिरं तस्थौ। अयमस्त्यनुशासनप्रभावः साहित्य-देवस्य व्याकरणोपरि ।

महाराजोऽयं साहित्यदेवः सर्वाण्येव शास्त्राणि विना पक्षपातं समानरूपेण शास्तीति साम्प्रतं छन्दःशास्त्रोपर्यस्य नियन्त्रणं कर्णे करणीयम् । यथासौ कोष-व्याकरणे स्वानुशासने रक्षति तथा छन्दःशास्त्रमपि, स्वल्पेऽप्यपराधे च तदपि दण्डयति । काव्यविच्छित्त्यनुभूत्यभीप्सया साहित्यक्षेत्रे प्रविष्ट-मात्र एवास्मिन् शास्त्रे देवस्तदुपदिशति :— छन्दोमहाशय ! काव्यसाहित्योपवनपवनसेवनाय मम नियन्त्रणेऽवस्थानं परमा-वश्यकमस्तीति किञ्चिदनुशासनीयोऽसि । अहं मन्ये, पूर्वसूरि-भिस्त्वन्नियमा निश्चिताः किन्तु साहित्यक्षेत्रप्रवेशार्थं तु सन्ति त्वत्कृतेऽपि कतिचन मम विशेषनियमाः तदुपेक्षायाञ्च त्वमप्य-स्मद्विधिपुस्तकस्यामुकामुकधारया 'हतवृत्त' दोषेण दण्डनीयो भविष्यसि । पश्य, छन्दोलक्षणानुसरणेऽप्यहमश्रव्यतां तु नैव सहिष्ये । वृत्तानां श्रव्यत्वाश्रव्यत्वनिर्णये सन्ति केचन मदीयाः स्वकीया नियमाः । यथा—

"त्र्यक्षरैस्त्र्यक्षरैरेव छेदैराभाति दोधकम् ।"
"विसर्गयुक्तैः पादान्तैः शोभामेति रथोद्धता"
"शाकाराद्यं विसर्गान्तैः सर्वपादैः सविभ्रमा ।"
स्वागता स्वागता भाति कविकर्मविलासिनी"इत्याद्या।

सर्वेषामेषामयमेव सारभूतोऽर्थो यत्—"सर्वत्राव्यभिचारेण श्रव्यतैव गरीयसी" इति । अतो मम क्षेत्रे लक्षणानुसरणेऽपि सहृदयजनानुभवसिद्धा वृत्तानामश्रव्यता परिहेया । अन्यथाचरणे त्वत्कृतेऽपि तथैव धारया निग्रहविधानं विद्यते ।

अन्यच्च महाशय, वृत्तानां रसानुगुण्येऽपि पूर्णमवधेयम्। नैतदुपेक्षणीयम्। यद्यपि सन्ति भेदोपभेदैरनल्पानि वृत्तानि, किन्तु न सर्वत्र सर्वाणि सहृदय-हृदयावर्जकानि। अतोऽत्राप्यहं त्वान् नियमविशेषान् निर्दिशामि। यथा—

शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम्।
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु॥
षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी मता॥
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता सुशोभते।
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलक्रीडितं मतम्॥
दोधकस्यानुगुण्यञ्च कविभिः स्वीकृतं हसे॥इत्यादि

एतद्विरुद्धाचरणे स एव 'हतवृत्त' दोषः समारोपयिष्यते। एतदतिरिक्तं पुनरप्येकस्मिन् विषयेऽनुशासनीयोऽसि। यद्यपि त्वदीये विधिपुस्तके पदान्तलघुगुरु-व्यवस्था-विषये लिखितं वर्तते—

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा॥ इति।

एतदनुसारञ्च प्रत्येकचरणस्यान्ते लघ्वक्षरस्यापि गुरुभाव उक्तस्तथापि मदीयास्त्यत्र विशेषाज्ञा 'न पादान्ते लघोर्गुरुत्वञ्च सर्वत्र' इति। अतस्त्वया केवलं द्वितीय—चतुर्थपादान्तलघोर्गुरुत्वं प्रयोक्तव्यम्। प्रथम-तृतीयपादान्तलघोर्गुरुत्वञ्च वसन्ततिलकादिपरत्वमेव। यत एवम्प्रायेषु वृत्तेषु प्रथम-तृतीयपादावसाने लघुवर्णसद्भावेऽपि श्रव्यता नापचीयते। अन्यथाचरणे त्वामत्रापि

'हतवृत' दोषेण निग्रहीष्यामि। एवं हि महाराजः साहित्य-देवरछन्दःशास्त्रमपि स्वशासने नियन्त्रितं चरीकरीतीति भाव्यम्।

यथायं महाराजः कोष-व्याकरणादीनि प्रतिपदं दमयति, नियन्त्रयति, व्यवस्थापयति च तथाच ज्योतिष-दर्शनायुर्वेद-प्रभृतीन्यपि शास्त्राणि स्वनियोगे रक्षति। स्वल्पेऽप्यनौचित्ये तान्यपि झटित्यनुशास्ति दण्डयति च। प्रारम्भेऽयं महाराजः सर्वाणीमान्याहूयैवमवगमयति—यूयं त्वेकदेशिनो वर्तध्वे, मदीयञ्चास्ति सार्वभौमं राज्यं सार्वजनीनम्। युष्माकं क्षेत्रेऽनेके ये स्वपारिभाषिकाः शब्दाः प्रचलिताः सन्ति, कामं प्रचलन्तु ते आत्मनः क्षेत्रे, परं न ते मदीये विषये प्रवेशमर्हन्ति। अनधिकृतप्रवेशारोपामहं तत्कालमेव नियमानुसारम् "अप्रतीत" नाम्ना दोषेण युष्मान् दण्डयिष्यामि। उदाहरणरूपेण यथानोऽयं द्रष्टव्यः—"योगेन दलिताशयः" इत्यत्र वासनार्थेऽयमाशयशब्दो योगदर्शन एव प्रतीतोऽस्ति। यतः "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (पा. यो. सू. १।२४) अत्र हि वासनार्थक 'आशय' शब्दः प्रयुक्तः, वासना चात्र संसारनिदानं मिथ्याज्ञानजन्यः संस्कारविशेषः। अत एकदेशित्वादयं शब्दो मदीये राज्यक्षेत्रे परिहेयः। एवमेव "नमो जामित्रबाहवे" अत्र चतुःसङ्ख्याकृते प्रयुक्तो जामित्रशब्दः केवलं ज्योतिषशास्त्र एव प्रतीतो विद्यते। अत एकदेशित्वाज्ज्योतिषक्षेत्रमात्रप्रचलिता अपि शब्दा अत्र परिहेयाः। तथैव—

"वैदेहीव निहन्ति तापनिकरं पुंसां शरच्चन्द्रिका"

शारदी कौमुदी मनुष्याणां सन्तापं 'वैदेही' इव अर्थात् पिप्पल्योषधिरिव नाशयतीत्यत्र पिप्पल्योषधकृते प्रयुक्तो वैदेही-

शब्दः केवलमायुर्वेदशास्त्र एव प्रसिद्धः । आयुर्वेदशास्त्राननुशीलिनां वैदेहोपदार्थानभिज्ञानां विज्ञानां तु न तदर्थबोधः । अतोऽत्राप्यप्रतीतत्वदोषारोपणं ज्ञेयम् । दूषकताबीजन्त्वत्र सर्वत्र तत्तच्छास्त्रानभिज्ञस्य तादृशार्थानुपस्थितिः । अत एव यत्र तच्छास्त्राभिज्ञ एव प्रतिपाद्यः स्वयमेव वा परामर्शस्तत्र न दोषत्वमित्यपि सर्वैर्युष्माभिः स्मरणीयम् । एवं सर्वाण्येव शास्त्राणि सम्बोध्य स्वल्पं त्रासयित्वा च पुनः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयता नैसर्गिककारुण्यपारावारेण महाराजेन निगदितम्—भ्रातरः ! न युष्माभिरन्यथा विचारणीयं न वा मयि विरोधभावश्चिन्तनीयो न च काप्यन्याऽसत्कल्पना कल्पनीया । सर्वं मयेदं राज्यमर्यादा-परिपालनार्थमेव क्रियते । यद्यहमेव न कुर्यांस्तर्हि स्वातन्त्र्यमवलम्ब्य यत्किञ्चिद्वादिन्यो मम प्रजाः सर्वाः स्थितीः सङ्किरेयुः । अवलोकनीयास्तावज्ज्योतिर्विद एव । अनियन्त्रिता इमेऽष्टमीं तिथिं बोधयितुं कथयिष्यन्ति यदद्य मरणतिथिर्वर्तते, अथवा कुत्रचिन्मध्येरङ्गमञ्चं सप्तमवेन्नासनमधिस्थितं जनं वीक्ष्यैते वदिष्यन्ति यदयं पाताले स्थितोऽस्ति । यत इमौ शब्दौ ज्योतिषशास्त्रे क्रमशोऽष्टमीं सप्तमीञ्च सङ्ख्यां परिभाषेते ।

अथ पुनर्व्याकरणस्य नियन्त्रणशैथिल्याद्वैयाकरणाः 'गुणाः पूजास्थानं' इत्यत्र 'अदेङ् पूजास्थानम्' वक्तुं प्रारप्स्यन्ते, तथैव "भारते सम्पदां वृद्धिः" इत्यस्य स्थाने "भारते सम्पदामादैच्" एव लपिष्यन्ति । अथ च कस्यचिद् गलस्य स्वरभङ्गं दृष्ट्वा झटिति वदिष्यन्ति—हंहो ! अस्य अजभङ्गो जातः" इति एवमयं महाराजः स्वाः प्रजाः पालयन् ताः शोभनं पन्थानं प्रदर्शयन्, उच्छृङ्खलतायां दण्डविधानेन दमयन्, नियमानुसारं नियमयन् दण्डयंश्च स्वमर्यादां स्थापयति ।

किमन्यद्. अयं शास्त्रसार्वभौमासनमाविष्ठायात्मीयानामपि काव्यरसालङ्कारादीनामनौचित्यं न दिदृक्षते । एतानपि नियन्त्रयति, दूषयति चानौचित्ये । निष्पक्षपातं विना भयं सर्वाणि शास्त्राणि नियन्त्रयताऽनेन देवेन काव्यप्राणभूतो रसोऽपि समादिश्यते :—रसमहाशय ! न भवतो नापि स्थायि-सञ्चारिणोः स्वशब्देन कुत्राप्यभिव्यक्तिर्भवेत् । सदा भवदादिभिर्व्यङ्ग्यमर्यादयैवोपस्थेयम् । प्रतिकूल-विभावादीनामपि ग्रहणं न विधेयम्, अनुभाव-विभावयोः कष्टाक्षेपः सहृदयेभ्यो न रोचते, अनुचितेऽवसरे रसस्य प्रकटनं छेदनञ्चाप्यस्मत्क्षेत्रे न भवेताम् । पुनः पुना रसदीप्तिमप्यहं न वाञ्छामि । अङ्गिनोऽननुसन्धानं, तथाऽङ्गस्यातिविस्तृतवर्णनमप्यनुचितं कलयाम्यहम्, प्रकृतिविपर्ययमर्पणौचित्यञ्चाप्यहं न दिदृक्षे । सहैव ये मम प्राणप्रियाः सहृदयाः कविशिरोमणयः सन्ति तैरपि निश्चितस्य—

> असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात् ।
> नियमस्य पुरस्कारात् सम्प्रदायस्त्रिधा कवेः ॥

इत्येव विधस्य त्रिविधस्य कवि-सम्प्रदायस्य विरुद्धमपि न किञ्चिदहं शुश्रूषे ।

एवमयं महाराजः साहित्यदेव आत्मीयानपि नियन्त्रणे रक्षन् धर्म-निरपेक्षञ्च राज्यं कुर्वन्नपि सर्वान् शास्त्रनागरिकान् स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापयन् सर्वैरेव परमात्मीयत्वेन समादृतः सततं सहृदयान् प्रीणयतीति किं कथनीयं शास्त्रसार्वभौमस्य साहित्यदेवस्य महामहनीयमहिमत्त्वे ?

काव्यस्वरूपम्

निश्चप्रचं करालकलिकालकलुषित-मानसानां मानुषाणां मनसः शान्तये, विनोदाय, ब्रह्मानन्दसहोदरामोदलब्धये च कवितैवैका पीयूषधारा या सहृदयान् अविरतमलौकिकेन रसेनाप्लावयन्ती चतुर्वर्गसाधनायापि भवति। सुन्दरलोकातिशायि-भाव-प्रभावेणैवेयं कविता जडं विज्ञयति, विज्ञं विद्योतयति, निर्बलं सबलयति, निरुत्साहं समुत्साहयति, निरञ्जनं रञ्जयति, निर्धनं धनयति, दुःखिनं सुखयति, व्यवहारनिष्यन्दविप्रुषः प्रसारयति, शिवेतरं क्षपयति, सद्यः परनिर्वृतिञ्च सम्पादयति। किमन्यत्, सेयं स्वोपासकेभ्यः प्रयच्छति महान्समर्थम्, अपहरति समस्तमनर्थम्, वितरति लौकिकं विज्ञानम्, अपनयति सर्वविषमज्ञानम्, वितनोति विमलं यशः, सन्तनोति निःशेषं श्रेयः, दूरीकरोति दुरितानि, विमलीकरोति हृदयानि, कान्तोपदेशसम्मितेन सदुपदेशेन सहजमेव कर्मणि नियोजयति च। सेयं कवितैव सर्वमङ्गलमञ्जुलेन काव्येन नाम्ना अभिधीयते। यस्य लक्षणपरिभाषणे प्राञ्चो विद्वांसः प्रकटयन्ति स्वं स्वं शेमुषीविलासमेवम् :—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्— इति भामहः।
निर्दोषं गुणालङ्कार-रसवद् वाक्यं काव्यम्— इति भोजः।
गुणालङ्कारयुक्तौ शब्दार्थौ काव्यम्— इति वामनः।

गुणालङ्कार-रीति-रसोपेतः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यम्— इति वाग्भटः।
निर्दोषं गुणालङ्कारलक्षणरीति-वृत्तिमद्वाक्यं काव्यम्— इति पीयूषवर्षः।
काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्— इति शौद्धोदनिः।
निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणगुम्फिता,
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्— इति जयदेवः।
शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी,
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी— इति कुन्तकः।
रसालङ्कारयुक्तं सुखविशेषणसाधनं काव्यम्—इति केशवमिश्रः।
इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्— इति दण्डी।
ध्वन्यात्मकं वाक्यं काव्यम्— इति आनन्दवर्धनः।
काव्यं विशिष्ट-शब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृतिः— इति क्षेमेन्द्रः।
वाक्यं रसात्मकं काव्यम्— इति विश्वनाथः।
रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्— इति जगन्नाथः।

एवं बहुभिर्ग्रन्थकारैः स्व-स्वसिद्धान्तमनुसृत्य काव्यलक्षणमक्रियत, किन्तु राजानकमम्मटः प्रायः सर्वेषाममीषां विदुषां सारभूतमिदं काव्यलक्षणं लिलेख—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" इति। अर्थात् अवाचकत्वक्लिष्टत्व-ग्राम्यत्व-च्युतसंस्कृतिप्रभृतिदोषशून्यौ, माधुर्य-प्रसादादिगुणगणविशिष्टौ, अनुप्रासोपमादिशब्दार्थोभयविधालङ्कारविभूषितौ, अथ पुनः कुत्रचित् स्फुटालङ्काररहितावपि शब्दार्थौ काव्यम्।

अत्र हि 'शब्दः काव्यम्, न शब्दार्थौ' इति पण्डितराजोपाधिसनाथो जगन्नाथः। अस्येयं विचारसरणिः—काव्यं पठ्यते, काव्यं रच्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते—इत्यादिविश्वजनीनो

व्यवहारः शब्दमेव काव्यकोटौ स्थिरयति, नार्थम् । नापि चैदृग्विधेषु व्यवहारेषु रूढलक्षणया काव्यशब्दप्रयोगेणार्थोपस्थितिः, शब्दार्थयुगलस्य काव्यशब्दवाच्यत्वे प्रमाणाभावात्—इति । सेयं लौकिकव्यवहारानुप्राणिता शब्दस्यैव काव्यत्वे एका कोटिः ।

अथ च शब्दार्थयोः सम्मिलितरूपेण काव्यत्वे 'एको न द्वौ' इति व्यवहारवच्छ्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तिः । अर्थाद् एकद्वय-योग एव द्विशब्दवाच्यो भवति, न पुनर्द्विशब्दस्यावयवरूपेण वर्त्तमानः पृथक्-पृथग् एकशब्दः । एवमेव न श्लोकवाक्यं काव्यम्, शब्दस्यैव तस्यावयवत्वात्, नापि शब्दार्थयोर्विभिन्नरूपेण काव्यशब्दव्यवहारः, एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः । तस्माद्वेदशास्त्रपुराणादिलक्षणस्येवात्रापि काव्यलक्षणे शब्दप्रयोग एवोचितः, न शब्दार्थयुगलस्य । सेयं शब्दस्यैव काव्यत्वेऽपरा कोटिः। अतः काव्यस्य शब्दनिष्ठत्वमेव समुचितम्—इति रसगङ्गाधरकारो जगन्नाथः ।

परं नेदं कथनं समुचितं जगन्नाथस्य । यतः काव्यस्य यथा श्रवणपठनादिव्यवहारप्रचारो मध्येभुवनं तथैव काव्यावबोधस्यापि । अवबोधश्चार्थस्यैव भवति न शब्दस्य । अत आस्वादव्यञ्जकत्वस्य शब्दार्थयोरविशेषादुभयत्रैव काव्यनिष्ठता समुचिता। वेदादिसंज्ञा न केवलं शब्दानामपितु शब्दार्थयोः सम्मिलितरूपस्य। अत एव 'तदधीते तद्वेद' इति सूत्रं विशदयता भगवता पतञ्जलिना स्वीकृतः शब्दार्थयुगलसङ्कलितो वेदस्वरूप—प्रकारः सुसङ्गतो भवति । रूढलक्षणया च शब्दार्थयोः प्रत्येकमपि काव्यशब्दप्रयोगः कर्त्तुं शक्यते । अतो नात्र 'एको न द्वौ' इतिवत् तदापत्तिः । तेन शब्दार्थौ—एव काव्यम्—इति मम्मटस्य सिद्धान्तो निर्बाधः ।

अथ "अदोषौ" इत्यत्रापि किञ्चिद् विचार्यते। 'अदोषौ' इत्यनेन किमु दोषसामान्याभावोऽभिप्रेतः, उत यत्किञ्चिद्दोषाभावः ? यत्किञ्चिद्दोषाभावश्चेत् तर्हि सत्यपि दोषे न काव्यात्मभूतरसविघातकस्य दोषस्योपस्थितावपि काव्यव्यवहारं को रोत्स्यति ? ततश्चोत्तमाधमादिकाव्यविभाग एव दुष्करः स्यात्, महान् अनर्थश्चापतेत्। अतो दोषाभावस्थाने दोषसामान्याभाव एव ग्रहीतव्यः। ये च पुनः "न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः०" इत्यादौ सत्यप्यविमृष्टविधेयांशदोषे उत्तमकाव्यतास्वीकरणे विप्रतिपद्यन्ते, तत्रोच्यते:— "अदोषौ" इत्यत्र नञ् पदस्य ईषदर्थो नेयः, अनुदराकन्या इतिवत्। तेन च काव्यात्मभूतस्य रसस्याविघातकत्वे न दोषस्य दोषत्वम्। अतः पूर्वोक्तपद्ये अविमृष्टविधेयांशदोषसत्त्वेऽपि न व्यङ्ग्यार्थक्षतिः। मम्मटस्यायमेवास्त्याशयो यस्मिन् पद्यांशे प्रतिपादितस्य व्यङ्ग्यार्थस्य येन दोषेण हानिर्न भवति स एवास्माभिस्त्यक्तः। अत एव हि दोषस्य लक्षणं कृतं तेन—'मुख्यार्थहतिर्दोषः' इति। अर्थात् उद्देश्यप्रतीतिविघातकत्वं दोषत्वम् इति। ततश्चोक्तपद्यस्य चतुर्थे पादे सत्यपि विधेयाविमर्शदोषे व्यङ्ग्यार्थक्षतेरभावाद् रसशास्त्रकृद्भिरुत्तमकाव्यताऽस्य स्वीकृता। अथ च 'अदोषौ' इति विशेषेणात्र रससत्ताऽपि सूचिता भवति। यतो दोषाः रसापकर्षकाः, तेषामभावे च रसोज्ज्वलता स्वतः सिद्धैव।

"सगुणौ" इत्यत्रापि भ्राम्यन्ति कतिचन। कथयन्ति ते, गुणास्तावद् रसधर्माः, तत्राचलस्थितिकाश्च। यथोक्तं स्वयं मम्मटेनैव—

> "ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
> उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥" इति।

तत्कथं रसधर्मत्वे सति तेषां शब्दार्थाभ्यां सह सङ्ग्रहः ?

अत्रोच्यते, रसोऽपि शब्दार्थोपस्थापितैर्विभावादिभिरेव व्यज्यते। अत एवात्र गुणशब्दस्य गुणाभिव्यञ्जकेषु शब्दार्थेष्वभिप्रायो नेयः। अर्थाद् गुणानां रसैकनिष्ठत्वेऽपि परम्परया तदभिव्यञ्जकशब्दार्थनिष्ठत्वम्—इति भावः।

अथ कतिपये विश्वनाथादयो भूयो वदन्ति यच्छब्दार्थयो रसव्यञ्जकत्वाद्रसद्वारा तयोर्गुणस्थितौ स्वीकृतायाम् 'सगुणौ' इत्यत्र "सरसौ" इति वाच्यमिति। अत्राप्युच्यते—अज्ञातरहस्याः खलु ते काव्यानाम्, भ्रमावर्त्ते निपतिता अत्रापि ते। यतः शब्दपदेन वाचक-लक्षक-व्यञ्जक-शब्दाः, अर्थपदेन च वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ-व्यङ्ग्यार्था गृह्यन्ते। व्यङ्ग्यार्थे च स्वीकृते कथं नाम रसापलापः ? इति त एव विचारयन्तु। मम्मटो हि अभिधया स्पष्टं कथनं नानुमोदते। अत एव स "सरसौ" इति स्थाने 'सगुणौ' इत्युक्त्वा व्यङ्ग्यमर्यादया शब्दार्थयोः सरसत्वं सूचितवान्।

कतिचन चात्र सगुणपदयोगेन गुणानां रसैकधर्मत्वाद् गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्या स्वत एव रसग्रहणं मन्यन्ते।

अथ च 'अनलङ्कृती' इत्यत्रापि 'ईषदर्थे' नञ्ग्रहणस्यैवाभिप्रायोऽस्ति मम्मटस्य। तेन हि सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचिच्च अनलङ्कारौ (स्फुटालङ्काररहितौ) अपि शब्दार्थौ काव्यपदवाच्यौ भवतः। अर्थात् चमत्कृत्याधायकौ शब्दार्थौ काव्यम्, इति।

अत्रापि विप्रतिपत्तिं प्रदर्शयन्ति असन्तः कियन्तः, यत् स्वीकृत्यापि बाह्याङ्गत्वं कथं तेषां काव्यलक्षणे प्रवेशोऽक्रियत मम्मटेन। यथा नहि कस्याश्चिद् व्यक्तेर्व्यक्तित्वमन्तरेण हारा

यदलङ्कारं न त्यजति तथा काव्यस्यापि विनोदनानुभावादनलङ्कारं न काव्यत्वक्षतिः। अतोऽलङ्काराणां काव्यलक्षणे प्रवेशोऽनुचित एवेति।

अत्रोच्यते, अत्रास्त्वभिप्रायो मम्मटस्यान्य एव। नानुनाऽलङ्काराणां बहिरङ्गत्वं प्रदर्श्य ते बहिष्कृताः। अस्य त्वयं भावः, गुणालङ्कारौ रसस्योत्कर्षकावुभावेव, किन्तु गुणानां रसैः सह साक्षात्सम्बन्धः अलङ्काराणां च परम्परासम्बन्धः। अर्थादलङ्काराः शब्दार्थद्वारैव रसं पोषयन्ति, अतोऽलङ्काराणां रसैः सह अचलस्थितेरभावः। तेनास्य मते स्फुटास्फुटालङ्कारान्यतरविशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् इति फलितोऽर्थः।

अयमत्र संक्षेपः। मम्मटेन हि 'तददोषौ' इति विलिख्य काव्ये व्यङ्ग्यद्वारैव व्यङ्ग्यस्य रसस्य समुल्लेखोऽभिप्रेतः। यतो दोषा भवन्ति रसापकर्षकाः, तदभावे च स्वत एव रसागमो भवेत्। एवमेव 'सगुणौ' इति विशेषणद्वारा तेन सूचितं यद् गुणोपादानेनापि रसः स्वयमागतो भवति। यतो गुणा हि रसनिष्ठाः तदयं 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' इति नयेन गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्या स्वयमेव रसोपादानं जायते। 'अनलङ्कृती' इत्यस्याभिप्रायो वर्तते—सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु अस्फुटालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्। अलङ्कारस्य विरहेऽपि तत्र व्यङ्ग्यस्याप्यनिवार्यता भवत्येव। यतस्तद्विना सर्वत्र वैरस्यमेव प्रसरीसरीति। अतोऽत्र नञोऽल्पार्थको भेदः। तेन च सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचिदस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यम्। इति सिध्यति। एवं हि मम्मटोक्तं 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इत्येव काव्यलक्षणं निर्दुष्टम्।

तदिदं काव्यं प्रति व्युत्पत्त्यभ्यासविशिष्टा प्रतिभैव हेतुः। प्रतिभा च नवनवोन्मेषशालिनी मेधा। व्युत्पत्त्यभ्यासमिति

समुदितास्त्रय एव पदार्था दण्डचक्रादिन्यायेन काव्यं प्रति हेतुरिति मम्मटाशयः। काव्यनिर्माणसामर्थ्यमेव प्रतिभा, सा हि सहजोत्पाद्येति रुद्रटः। अभ्यासः काव्यकर्मणि व्यापारः—इत्यन्यः। काव्यक्रियायां कवेः समाधेरेव व्यापारः इत्यपरः— इत्यलमप्रासङ्गिकप्रपञ्चेन। प्रकृतमनुसरामः।

अथ च किं कथनीयं मम्मटलिखितस्य काव्यलक्षणकारिकांशस्य वैशिष्ट्यविषये ? अत्रहि दशानामपि काव्यप्रकाशोल्लासानां संक्षेपेण निदर्शनं लभ्यते। तथाहि—'तदिति' सप्रयोजनं सहेतुकं सप्रभेदञ्च काव्यस्वरूपं प्रथमोल्लासे निर्दिष्टं भवति। 'शब्दार्थौ' इति धर्मिभूतयोः शब्दार्थयोर्द्वितीय-तृतीयोल्लासनिर्णीतयोः सूत्राणां निवेशः प्राप्यते। अनन्तरं तदित्यनेनैव सप्रभेदं यत्काव्यस्वरूपमुपदिष्टं तस्य त्रयो भेदाः सप्रपञ्चमुल्लासत्रयेण प्रतिपादिताः। 'अदोषौ' इत्यनेन दोषाणां परिहार्यत्वेन सूचितानां सप्तमोल्लासे निर्णयो वर्त्तते। 'सगुणौ' इत्यनेन सूचितानां गुणानामष्टमोल्लासे 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति विशेषप्रतिषेधे शेषाभ्यनुज्ञानमिति न्यायेनोट्टङ्कितानां शब्दार्थालङ्काराणां क्रमेण नवम-दशमोल्लासयोर्निर्णयो विद्यते। एवं पदपञ्चकेन उल्लासा दश सूचिता अत्र।

शब्दा अर्थास्त्रयस्त्रयः

शब्दार्थौ काव्यमिति संगीतिशून्यः सिद्धान्तः साहित्यविदाम् । तत्रार्थबोधक्षमो वर्णसमूहः शब्दः कथ्यते, शब्दश्रवणानन्तरञ्च श्रोतुर्बुद्धौ येषां येषां विषयाणां ज्ञानमुद्भासते ते तस्य शब्दस्यार्था अभिधीयन्ते । अर्थबोधस्य चैषोऽस्ति क्रम :—प्रथमस्तावच्छब्दश्रवणानन्तरं श्रोतुरात्मनि तत्तच्छब्दप्रतिपाद्या अर्थाः प्रतिभासन्ते । आत्मनि शब्दश्रवणजन्योपस्थितिश्चैषां स्मृतिरूपैव । सा चानुभूतपदार्थस्योद्बोधक-सहकृत-संस्कारेण जायते । तादृशसंस्कारस्य चोद्बोधे कस्यचनान्यस्योद्बोधकस्यादर्शनात्तत्तच्छब्दश्रवणस्यैव हेतुता । शब्दानां यदि पदार्थैः सह सम्बन्धो न स्यात्तर्हि अर्थस्मृतिरपि न स्यात्, किन्तु स्मर्यन्ते तैस्तैः शब्दैस्ते तेऽर्थाः । ते चार्था बोद्धाः । अत एव शब्दार्थयोरभेदं सम्बन्धं वदन्ति जगन्ति ।

अथ पुनः सोऽयं शब्दोऽर्थश्च काव्यशास्त्रे कतिविधो भवतीति प्रश्ने भणन्त्याचार्या यत् काव्यशास्त्रे वाचको लाक्षणिको व्यञ्जकश्चेति त्रिविधो भवति शब्दः । वाच्यार्थो लक्ष्यार्थो व्यङ्ग्यार्थश्चेत्येषामर्था भवन्ति । केषाञ्चिन्मते तात्पर्यंया शक्त्या प्रतिपाद्योऽर्थस्तात्पर्यार्थोऽपि भवति ।

तत्र व्यवधानमन्तरेण जाति-गुण-क्रियारूपार्थप्रतिपादकः शब्दो वाचकः । यथोक्तमभियुक्तैः—"साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स

वाचकः" इति। ननु संसारेऽर्थप्रतीतिविरहितः शब्दो न कुत्रापि प्रयुज्यते, लोकव्यवहारे कस्यचिदपि सङ्केतज्ञानस्यार्थप्रतीतौ निर्हेतुत्वात्। अतः सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति सिध्यति। किन्त्वत्र साक्षात्सङ्केत एव ग्राह्यो भवति। अतः सर्वमपि पदजातं प्रकारद्वयेनार्थं प्रतिपादयति मध्येलोकम्:- साक्षात्सम्बन्धरीत्या परम्परासम्बन्धरीत्या च। यथा भगवन्तं रामेश्वरं प्रत्यक्षं दर्शयित्वा तन्नाम्ना तत्र कृतः सङ्केतः साक्षात्सम्बन्धरीत्या भवति। परं तद्रामेश्वरनामयोगाद्रामेश्वरनाम्नैव प्रसिद्धे तीर्थनगरे रामेश्वर-सङ्केतः परम्परासम्बन्धकृतो बोध्यः। स चायं सम्बन्धः परम्परासम्बन्धरूपिण्या रूढिलक्षणया, न पुनः साक्षाद्रीत्या। अथवा किमपि वटविटपं प्रत्यक्षं दर्शयित्वा तन्नाम्ना तत्र कृतः सङ्केतः साक्षात्सङ्केतः किन्तु तदतिविततवट-विटपयोगाद् वटनाम्नैव ख्याते ग्रामे वटसङ्केतः परम्पराकृतः सङ्केतः। अतः साक्षात्सङ्केतः "अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः," अथवा "इदं पदमिममर्थं बोधयतु" इत्येवंबोधकतारूपो भवतीति निष्कर्षः। यथा गङ्गापदस्य नृपभगीरथ-रथखातावच्छिन्न-पानीयप्रवाहे साक्षात्सङ्केतो विद्यते तद्बोधनाच्च गङ्गाशब्दो वाचकशब्दः।

अथ लक्षणाया आश्रयः शब्दो लाक्षणिको भवति। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्युदाहरणे गङ्गापदेन लक्षणया गङ्गातटस्य बोधो भवति, अतोऽत्रायं गङ्गाशब्दो लाक्षणिकः।

व्यञ्जनावृत्तियुक्तः शब्दो व्यञ्जकनाम्ना प्रसिद्धः। यथा 'अस्तङ्गतो भानुमान्' इत्यनेन अभिसरणमुपक्रम्यताम्, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्ताम्, सान्ध्यो विधिश्चोपक्रम्यतामित्यादीनां बोधो जायते।

{सङ्केतग्रहोपायाः} केन शब्देन कस्यार्थस्य सम्बन्धो वर्तते? एतज्ज्ञानाय कथयन्ति सहजोपायान् वृद्धजनाः—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

यथा १—वसुदेवस्य अपत्यं वासुदेवः—इत्यत्र वसुदेवसुते (कृष्णे) वासुदेवस्य शक्तिग्रहो व्याकरणतः ।

२—गोसदृशो गवयः—इत्यत्र गवयपदस्य गोसदृशे पशुविशेषे, शक्तिग्रह उपमानतः ।

३—'सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यादौ स्थले सहस्रपत्रादीनां कमले शक्तिग्रहः कोशात् । अथ च हरि-गुण-द्विज-प्रभृतिनानार्थकानामपि शब्दानां सङ्केतज्ञानं कोशत एव भवति ।

४—अयं पशुः 'अश्व'-पदवाच्यः, अयं च 'गर्दभ'-पद-व्यवहार्यः, एवं शक्तिग्रहो भवति गुरु-मातृ-पितृ-प्रभृति-प्रामाणिक-पुरुषवचनात् ।

५—व्युत्पित्सुर्बालो 'गामानय' इत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनं दृष्ट्वा मध्यम-प्रवृत्तिजनकस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य "महिषीमानय" "गां बधान" इति वाक्यान्तरे आवापोद्वापाभ्यां गोपदस्य गोत्वविशिष्टे महिषीपदस्य च महिषीविशिष्टे शक्ति-रस्तीति व्युत्पद्यते व्यवहारात् ।

६—"यवमयश्चरुर्भवति" अस्मिन् वैदिके वाक्ये आर्य-प्रयोगात् किं यवशब्दः सितशूकवाचकः, उत म्लेच्छप्रयोगात् कङ्गुवाचकः ? इति सन्देहे एतदङ्गभूतेन "वसन्ते सर्वसस्यानां

जायते पत्रशातनम्।मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः" अनेन वाक्येन आर्यप्रयोगादेवात्र यवशब्दस्य सितशूके शक्तिग्रहो भवति। स चायं शक्तिग्रहो वाक्यस्य शेषाद् बोध्यः।

७—'करोतु रक्षां स हरिप्रवीरः' इत्यत्र हरिषु=वानरेषु प्रवीरः=प्रधानः इत्येवं विवरणाद् हरिपदस्य वानरे प्रवीरपदस्य च प्रधाने शक्तिग्रहो भवति विवृतेः=व्याख्यानात्। विशेषरूपेण समानार्थकपदवाक्यप्रयोगदर्शनात्।

८—"आम्रेषु कूजन्ति पिका मृदुस्वरम्" अत्र गृहीत-सङ्केतानाम् आम्रादिपदानां समीपोच्चारितत्वात् पिकशब्दस्य कोकिले शक्तिग्रहो भवति प्रसिद्धपदसमभिहारात्।

एवंरीत्या येषु येष्वर्थेषु शब्दस्य सङ्केतो भवति ते सर्वे तस्य शब्दस्य 'अर्थाः' कथ्यन्ते।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः

वैयाकरणास्तदनुगामिन आलङ्कारिकाश्च शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्त जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यैश्चतुर्विधं मन्यते । तेन चामीषां मतानुसारं जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छारूपात्मके, उपाधौ सङ्केतो गृह्यते । यथा "गौः शुक्लश्चलो डित्थ" इत्यत्र—

गोपदस्य	सङ्केतो	जातौ
शुक्लपदस्य	,,	गुणे
चलपदस्य	,,	क्रियायाम्
डित्थपदस्य	,,	यदृच्छारूपात्मके द्रव्ये (संज्ञायाम्) इति ।

[जाति–महत्त्वम्]

तत्र पदार्थस्य प्राणप्रदो वस्तुधर्मो जातिशब्देनाभिधीयते । न हि कश्चित् पदार्थो जातिसम्बन्धमन्तरेण स्वरूपमभिधत्ते । जातिरेव वस्तुनः (व्यक्तेः) प्राणभूतो धर्मः । कस्यचिदपि पदार्थस्य नाम तस्य जातिमेवापेक्षते । ब्राह्मण-क्षत्रियादिनिष्ठा तत्तल्लक्षणविशेषोद्भाविता प्रत्यक्षा ब्राह्मण-क्षत्रियत्वादिजातिर्ब्राह्मण-क्षत्रियादिपदानां वाच्या भवति। अयं मनुष्यः, अयं पशुः, अयं क्षत्रियः, अयं ब्राह्मणः—इति व्यवहारे प्रवृत्तिनिमित्तभूता तत्तज्जातिरेव, नान्यत् प्राणप्रदत्वात् । अतो मनुष्य-पशु-ब्राह्मण-

क्षत्रिय-वैश्यप्रभृतयः शब्दा जातिवाचका जात्युद्बोधकत्वात्। उल्लिखितञ्च पण्डितराजेन रसगङ्गाधरे—"अयं च जातिरूपः शब्दार्थः प्राणप्रदः। प्राणं व्यवहारयोग्यतां प्रददाति सम्पादयतीति व्युत्पत्तेः" इदमेव कथनं परिपोषयन् भर्तृहरिरपि वाक्यपदीये लिखति—"न हि गौः स्वरूपेण गौः, नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात् गौः" इति। अर्थात् गोपदवाच्यः सास्ना-लाङ्गूल-खुर-ककुद-मज्जन्तुर्जातिरहितव्यक्तित्वमात्रेण (अज्ञातगोत्वकेन केवलं धर्मि-स्वरूपमात्रेण) न गोशब्दव्यवहार्यो भवति। तथासति स्वरूप-मात्रेण गर्दभोऽपि गौः स्यात्। नापि च स प्राणी गोशब्दवाच्य-प्राणितो भिन्नो गर्दभादिरिति। एवं सति तु स्वरूपस्याविशेषाद् दूरादपरिचिते गर्दभेऽपि गौरिति, गवि च गर्दभः—इति व्यवहा-रापत्तिः। अत एव गोत्वजातिसम्बन्धेनैव स प्राणी गोशब्द-व्यवहार्यो भवति।

एवं हि प्राणप्रदां जातिमन्तरेण वस्तुनः स्वरूपमेव न सिध्यतीति कथनं सर्वथा युक्तियुक्तम्। तेन च 'नित्यमेकमनेकानु-गतं सामान्यम् (जातिः)' इत्युक्तचरमपि जातिलक्षणं सुसङ्गत-मिति दिक्।

[गुण-महत्त्वम्]

सिद्धस्य वस्तुधर्मस्य लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो यया प्रथमो भेदः प्राणप्रदो जातिस्वरूपो भवति तयाऽस्य द्वितीयो भेदो विशेषाधानहेतुर्भवति, स च गुणस्वरूप एव। अस्य गुणस्यापि जातेरिव व्यक्तौ समवायसम्बन्धेन स्थितिरवधेया। उक्तञ्च—

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः॥ इति।

सोऽयं गुण एव जात्या प्राप्तव्यवहारयोग्यताकं वस्तु (व्यक्तिविशेषं)सजातीयेभ्यो भेदयति। यथा विद्वान् मनुष्यः,शुक्लो वृषभः। अत्र विद्वच्छुक्लशब्दौ गुणवाचकौ, न जात्याधायकौ। यतो मनुष्यत्व-वृषभत्वजात्योरस्तित्वं तु पूर्वमेव मनुष्य-वृषभशब्द-कथनमात्रेणैव सुसिद्धम्। विद्वच्छुक्लशब्दौ तु तं मनुष्य वृषभञ्चान्येभ्यो मनुष्येभ्यो वृषभेभ्यश्च व्यावर्त्तयतः। अत एव सजातीयेभ्यो व्यावर्त्तनहेतुकाः शुक्लादयः शब्दा गुणवाचकाः कथ्यन्ते।

जाति-गुणयोश्चायं भेदो वर्तते यद् गुणो द्रव्यमाश्रयते, भिन्नजातिषु द्रव्येषु च दृश्यते किन्तु जातिर्न केवलं द्रव्ये वर्तते, अपितु द्रव्य-गुण-कर्मसु। नापि सा द्रव्ये निविष्टा द्रव्यं कदाचिज्जहाति, न च भिन्नजातीयानि द्रव्याण्यभिनिविशते। जातिर्हि द्रव्यत्वावान्तरनानाजातिषु न दृश्यते, किन्तु गुणस्तु दृश्यत एव। यथा वृषभे दृष्टः श्वेतो गुणो गर्दभेऽपि दृश्यते। अत एवोक्तं गुणलक्षणं महाभाष्ये—

सत्त्वे निविशतेऽपैति, पृथग्जातिषु दृश्यते।
आधेयश्च क्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥ इति।

अत्रेदमपि न विस्मर्त्तव्यं यत् समुत्पन्नद्रव्यस्य गुणेन सहायोगः। तेन चोत्पन्न-द्रव्यस्य क्षणमेकं निर्गुणत्वम्। उत्पत्तिस्तु जातियुक्तस्यैव द्रव्यस्य 'जन्मना जायते जातिः' इत्यभियुक्तोक्तेः।

[क्रिया–महत्त्वम्]

अथ पुनर्वस्तुधर्मस्यापरो भेदः साध्यः क्रियारूपः। यथा पचतीत्यत्र पूर्वापरीभूता अधिश्रयणादयो व्यश्रयणान्ता अवयवा

यस्याः सा पचनक्रिया, तद्रूप एवायञ्च धर्मो वर्त्तते। एवमन्यासु क्रियास्वपि बोध्यम्। एवं हि भासमानपौर्वापर्यकावयवकत्व-समानाधिकरणो धर्मविशेषः साध्यः—इति सिध्यति। स च पचनादिक्रियारूपः। तदेवोक्तमभियुक्तैर्वाक्यपदीये :—

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥ इति।

अहं तण्डुलान् पक्ष्यामीति विचारानन्तरं यत्किञ्चित् क्रियते, तदेव पचनं, तस्य च कर्तृप्रयत्नसाध्यरूप एव साध्यः। अर्थाद् उत्पादयितुर्व्यापाररूपा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रियेति व्यपदिश्यते।

अत्रायं सारः। ये शब्दाः क्रियानिमित्तीभूताः सन्तः प्रवर्त्तन्ते ते शब्दाः क्रियावाचकाः कथ्यन्ते। यथा पाठकः(पाठपठनकारकः)। अत्र पाठ=(पठन)=क्रियाया निमित्तेन पाठकशब्दस्य प्रयोगः क्रियते। अतः पाठकशब्दः क्रियावाचकः। एवं पाचकादयोऽपि शब्दा अनुसरणीयाः।

[यदृच्छा-महत्त्वम्]

अथ कश्चिदुपाधिः संज्ञारूपो वक्तृयदृच्छात्मकश्चतुर्थः। स च वक्त्रा स्वेच्छया मोहन-सोहन-डित्थादिशब्दानां प्रवृत्ति-निमित्तरूपत्वेन स्थापितः पूर्वपूर्ववर्णानुभव-जनितसंस्कारसहकृतया अन्त्यवर्णबुद्धया साभिव्यक्तो वर्णक्रमग्रहशून्यः स्फोटाख्य-शब्दस्वरूपो धर्मः। अर्थाद् यस्य यन्नाम वक्तुरिच्छया स्थापितस्तदेव तस्य सङ्केतः।

एवं हि उपर्युक्तरीत्या प्राणप्रदो जातिः, विशेषाधानहेतुर्गुणः, साध्यः क्रियारूपः, यदृच्छाशब्दो मोहन-सोहन-डित्थ-कपित्यादिरिति चतुर्विध उपाधिर्व्याख्यातो भवति। एतेष्वेव व्यक्तेरुपाधिषु सङ्केतो गृह्यते। सोऽयं सिद्धान्तो न केवलमालङ्कारिकैरेव स्वीकृतः प्रत्युत पूर्वाचार्यैर्वैयाकरणमूर्धन्यैरपि प्रत्यपाद्यत। यथोक्तं महाभाष्ये भगवता पतञ्जलिना—

"गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः"

इति।



उपाधिवादः

अभिधाशक्त्या यः शब्दो यमर्थं बोधयति स तस्य वाचकः। वाचकशब्दश्च यस्य सङ्केतितार्थस्य अभिधायकतां याति स सङ्केतितार्थो जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छात्मको भवति। तत्र जातिर्गोत्वादिः, अङ्ग-संस्थान-विशेषाभिव्यङ्ग्या प्रत्यक्ष-सिद्धा, गोवृषभादिपदानामभिधेया। गुणः शुक्ल-नीलादिः, शुक्लनीलादिपदानामभिधेयः। चलनक्रियादिश्चलनादिशब्दा-नामभिधेयः। यादृच्छिकस्तु संज्ञाशब्दो वक्त्रा स्वेच्छया डित्थ-कपित्थ-मोहन-सोहनादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तत्वे सन्निवेशितो धर्मः। परन्त्वेषु चतुर्षु सङ्केतः कुत्र गृह्यते ? इति प्रश्ने समुपस्थिते—

जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छासु व्यक्तेरुपाधिषु सङ्केतः—
इति वैयाकरणाः।
केवलं जातावेव सङ्केतः—इति मीमांसकाः।
जातिविशिष्टव्यक्तौ सङ्केतः—इति नैयायिकाः।
तदितरव्यावृत्तौ सङ्केतः — इति बौद्धाः।

अत्र वैयाकरणाः कथयन्ति—यद्यपि शब्दानां सङ्केतितेनार्थेन व्यक्तिरूपेणैव भवितव्यम्। यतोऽस्माकं सर्वोऽपि जीवन-व्यवहारो व्यक्तिरूपमेवार्थमवलम्बते, तथाऽस्माकं प्रवृत्तेर्निवृत्तेश्चापि व्यक्तिरूप एवार्थः। नहि गर्दभो गम्यतां, वृषभो नीय-

तामित्यत्र गर्दभत्वं गम्यते, वृषभत्वं वा नीयते। अपि तु तदाश्रिताया व्यक्तेरेव गमनं वा नयनं भवति। अर्थाद् गर्दभमानयेत्युक्ते आनयनप्रयोजनसाधनभूता गर्दभव्यक्तिरेव, न पुनर्गर्दभत्वम्। अतः प्रयोजन-सम्पादकत्वाद् व्यक्तावेव सङ्केतः समुचितः—इति।

परन्त्वत्र व्यक्तिशक्तिवादे विपत्तिरस्तीयं यत् कस्यापि शब्दस्य तस्य व्यक्तिरूपस्यार्थस्य च मध्ये वाच्यवाचकभावरूपे सङ्केते स्वीकृते तु त्रयो दोषा उपस्थिता भवन्ति— आनन्त्यदोषः, व्यभिचारदोषः, विषयविभागव्यवस्थाया भञ्जनरूपदोषश्चेति।

तत्र प्रथमदोषस्यायमस्त्यभिप्रायो यद् व्यक्तौ सङ्केते स्वीकृते व्यक्तीनामानन्त्यात् कदाचित् केनचिदुच्चारितादेकस्माद् वृषभशब्दात् सर्वासामनन्तानां वृषभव्यक्तीनां युगपदनुपस्थितत्वाच्च समस्तासु वृषभव्यक्तिषु सङ्केतः कर्तुं पार्यत—इति आनन्त्यदोषः। व्यभिचाररूपदोषस्येदमस्ति तात्पर्यं यत् कस्याश्चिदेकस्या वृषभव्यक्तेर्वृषभशब्दस्य सङ्केतितार्थे स्वीकृते तु तदतिरिक्तानामनन्तानां वृषभव्यक्तीनां कृते कथं तस्यैव वृषभशब्दस्य व्यवहारः करिष्यते ? एवं हि कस्याञ्चिदेकस्यां वृषभव्यक्तौ सङ्केतितायां सङ्केतग्रहकालेऽनुपस्थितानामपि वृषभव्यक्तीनां वृषभव्यवहाररूपो व्यभिचारदोषः। अथ तृतीयदोषस्यायमस्ति भावो यच्छब्दानां सङ्केतितार्थो यदि व्यक्तिरूप एवार्थः स्वीकरिष्यते तर्हि शब्दानुशासनशास्त्रनिश्चिता जाति-गुणक्रियायदृच्छा-(संज्ञा)-पदैः प्रसिद्धाः शब्दानां चत्वारोऽपि विभागा निरर्थकाः स्युः। यतो वृषभः शुक्लश्चलो डित्थः-इत्यभिधाने सर्वैरेवैभिः पदैर्वृषभव्यक्तेरभिधानाद् घट-कुम्भ-कलशवत्

त्यव्यक्तिवाचकतया सहप्रयोगः कथमपि न सम्भवः। अतो षय (पदार्थ)–विभागव्यवस्थाभङ्गदोषः शिरसि समापतति।

मतस्यास्यायमस्ति संक्षेपः। यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप- यावहारिककार्यकलापस्य व्यक्तिमात्रायत्ततया व्यक्तिरेव ङ्केतसहा वरीवर्ति तथापि आनन्त्याद्, व्यभिचाराद्, विषय- वेभागभङ्गरूपाच्च दोषात्र तत्र सङ्केतः कर्तुं युज्यते। यतो यक्तौ सङ्केतः व्यक्तेर्नानात्वेन युगपदुपस्थापयितुमशक्य- वात् सर्वथा दुर्घटः—इति आनन्त्यदोषः। कस्याञ्चिदेकस्यां यक्तौ च सङ्केते कृते सङ्केतकालेऽनुपस्थितस्यापि व्यक्त्यन्त- रस्य भानं सङ्केतं विनैव स्यादित्यपि न वाच्यं यतो दृश्यते हि तद्भानमिति व्यभिचारदोषः। अपि व्यक्तिशक्तिवादेऽत्र वृषभः शुक्लश्चलो डित्थः इत्यादीनां शब्दानां व्यक्तिमात्रबोधकतया अर्थभेदो न प्राप्नोति। यतो वृषभत्वरूपजातिमान् शुक्लत्व- रूपगुणवान् चलनरूपक्रियावान् डित्थनामधारी वृषभोऽयमिति भिन्नतात्पर्येण 'वृषभः, शुक्लः, चलः, डित्थः' इति प्रयोगे चतुर्भिरेभिः शब्दैरेकस्या एव वृषभव्यक्तेरभिधानात् 'घटः, कलशः, कुम्भः' इत्यादीनामिवैकार्थवाचकतया पर्यायत्वमेवै- तेषां सम्भवेत्। तेन हि विषयविभागभञ्जनदोषोऽपि समाप- तति। परमुपाधौ सङ्केते स्वीकृते तु जातिगुणक्रियायदृच्छा- (संज्ञा)—शब्देषु प्रवृत्तिनिमित्तस्य भिन्नत्वाद् वृषभादिशब्दानां पर्यायत्वाभावात् सहप्रयोगः सङ्गच्छते। अत आनन्त्यप्रसङ्ग— व्यभिचारप्रसङ्ग–विषयविभागभञ्जनप्रसङ्गरूप—दूषणत्रयदूषित- त्वात् सकलप्रयोजनसम्पादनसाधनभूतोऽपि व्यक्तिसङ्केतग्रह- वादो नाश्रयणीयः। उपाधिवाद एव समाश्रयणीयः। एष एवास्ति वैयाकरणानां (व्यक्तिशक्तिग्रहवादस्य) सिद्धान्तस्य सारः।

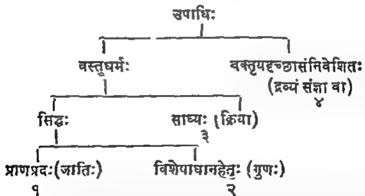
सोऽयमुपाधिर्द्विविधो भवति— वस्तुधर्मस्य रूपादिः वक्तृयदृच्छासंनिवेशितरूपश्चोपाधिः । तत्र वस्तुनि (व्यक्तौ) समवाय-(नित्य)—सम्बन्धेन वर्त्तमानो धर्मो वस्तुधर्मः । सामान्यापरपर्याया जातिश्च व्यक्तौ समवायसम्बन्धेनैव समवतिष्ठते—गुणगुणिनोः, क्रियाक्रियावतोः, जातिव्यक्त्योः, नित्यद्रव्यविशेषयोश्च समवायसम्बन्धसत्त्वात् । अत एव "नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं जातित्वम्" इति तल्लक्षणं सङ्गच्छते । एवञ्च वस्तुधर्मेण जाति-गुण-क्रियाणामपि ग्रहणम् । एतदर्थेनैव सिद्धरूपवस्तुधर्मः साध्यरूपवस्तुधर्मश्चेति वस्तुधर्मो द्वेधा । अत्र सिद्धरूपवस्तुधर्मस्तु वस्तुनः (व्यक्तेः) जन्मजातधर्मो विद्यते, साध्यरूपवस्तुधर्मश्चागन्तुको धर्मः । सिद्धरूपवस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—पदार्थस्य (पदस्य अर्थस्य) यथा वृषभपदस्य वृषभरूपार्थस्य प्राणप्रदत्वात् प्राणप्रदः प्रथमो भेदः । सजातीयव्यावर्त्तकत्वाच्च द्वितीयो भेदो विशेषाधानहेतुः । अयमेव पदार्थप्राणप्रदो वस्तुधर्मो व्यवहारयोग्यताप्रदत्वाज्जातिरित्युच्यते, तामन्तरेण व्यवहाराभावात् । अत एव भर्तृहरिप्रणीते वाक्यपदीये सोऽयमुल्लेखः प्राप्यते—"नहि गौः स्वरूपेण गौः, नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः" इति । अर्थात् गोशब्दवाच्यः सास्ना—लाङ्गूल-खुर-ककुद-मज्जन्तुरजातगोत्वकेन व्यक्तिस्वमात्रेण न गोशब्दव्यवहार्यो भवति, तथा सति स्वरूपमात्रेण गर्दभो, वृषभो, महिषोऽपि वा गौः स्यात् । नापि च स प्राणी गोशब्दवाच्यप्राणितो भिन्नो गर्दभादिरिति । एवं सति तु स्वरूपस्य अविशेषाद् दूरादपरिचिते गर्दभेऽपि गौरिति गवि च गर्दभः—इति व्यवहारापत्तिः । अत एव गोत्वजातिसम्बन्धेनैव स प्राणी गोशब्दव्यवहार्यो भवतीति ।

अथ यो द्वितीयः सिद्धरूपः पदार्थ-विशेषाधायको वस्तु-

धर्मः स एव गुणशब्देनाभिधीयते। यथा शुक्लकृष्णादिः। अयमेव गवादिषु शुक्लादिविशेषतामादधाति।

अथापरो वस्तुधर्मः साध्यरूपः क्रियेत्युच्यते। उत्पाद्यत्वादयं धर्मः साध्यशब्देन व्यपदिश्यते। यतः क्रिया हि पूर्वापरीभूतावयवा भवति। यथा पाकक्रिया उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्ता बोध्या। वस्तुतो नानाविधव्यापाराणां समूहः क्रियाशब्दव्यवहार्यो भवति।

वक्तृयदृच्छासंनिवेशितो वस्तुधर्मः संज्ञाशब्देन प्रोच्यते। सोऽयं वस्तुधर्मो वाग्व्यवहारमातन्वद्भिः स्वेच्छया तासु तासु व्यक्तिषु समारोपितो धर्मो विद्यते। अर्थाद् राम-श्याम-प्रभृतिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं वर्णक्रमज्ञानशून्यं स्फोटरूपं वक्त्रा स्वेच्छया राम-श्याम-प्रभृतिष्वर्थेषु यो विशेषणतया सन्निवेश्यते स यदृच्छाशब्दः। अयमेव च संज्ञाशब्दो वा द्रव्यशब्दो समुच्यते। सोऽयं विभागोऽधस्ताद्विलोकनीयः—



एवं हि प्राणप्रदो जातिः, विशेषाधानहेतुर्गुणः, साध्यः क्रियारूपो यदृच्छाशब्दो राम-श्यामादिरिति चतुर्विध उपाधि-

र्वणितः । एष्वेव व्यक्तेरुपाधिषु सङ्केतो गृह्यते । सोऽयं सिद्धान्तो वैयाकरणमूर्धन्येन मुनिना पतञ्जलिनाऽपि स्वीकृतो वर्त्तते । यथोक्तं तेन महाभाष्ये—"गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" इति । तदेवंरीत्या गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यत्र—

गोपदस्य	सङ्केतो	जातौ
शुक्लपदस्य	,,	गुणे
चलपदस्य	,,	क्रियायाम्
डित्थपदस्य	,,	द्रव्ये (संज्ञायाम्) इति ।

उपाधिवादे विप्रतिपत्तयः अत्रोपाधिवादे कोऽयं सन्देहः समुदेति समालोचकानां मनःसु यदुपर्युक्तपदार्थविभागव्यवस्थानुसारं परमाण्वादयः शब्दा अपि परमाणुत्वादिरूपजातिवाचकाः सन्ति, उत वैशेषिकदर्शनानुसारं गुणवाचकाः शब्दा वा । यदि जातिवाचका इत्युच्यते, तर्हि वैशेषिकं शास्त्रं विरुध्यते, वैशेषिके शुक्लादिशब्दानामिव परमाण्वादिशब्दानामपि परिमाणरूपगुणविशेषवाचकत्वेन गुणशब्दत्वाभ्युपगमात् । यदि गुणवाचका इत्युच्यते तर्हि परमाणुपरिमाणस्य नित्यत्वात्तत्र लब्धसत्ताकवस्तुविशेषलक्षणो गुणधर्मो नोपपद्यते । यदि च नित्यस्यापि लब्धसत्ताकवस्तुविशेषकत्वं स्यात्तर्हि वृषभत्वाद्यपि तथापद्येत । वृषभादिशब्दाश्च गुणशब्दाः स्युरिति चेद्, अत्रोच्यते परमाण्वादयः शब्दा जातिवाचका एव शब्दाः । परमाणुत्वस्य वृषभत्वादिवत् प्राणप्रदत्वेन जातित्वात् । वैशेषिकाणां व्यवहारस्तु तत्र स्वपरिभाषानुसारेण । यथा—अकारे एङ्प्रत्याहारे च गुणशब्दव्यवहारो वैयाकरणानाम्, सत्त्वरजस्तमःसु साङ्ख्यानाम्, माधुर्य-

प्रमादादिषु चालङ्कारिकाणाम् इति । अत एवैते वैशेषिका जात्युपहितायां व्यक्तौ सङ्केतं स्वीकुर्वन्ति। एवं हि मम्मटोक्तजातित्वस्य वैशेषिकस्वीकृतगुणत्वेन न विरोधः । मम्मटमते परिमाणुमहत्परिमाणयोर्जातित्वं वैशेषिकमते तु गुणत्वमिति निष्कर्षः ।

अथ पुनरिहान्ये केचन विपश्चितो विप्रतिपद्यन्ते–नन्वेकत्वाज्जातेरुपाधित्वमस्तु गुणादीनां तु तथात्वे प्रतिवस्तु भिन्नत्वादिहापि व्यक्तिशक्तिवादवद् आनन्त्य-व्यभिचारदोषयोराक्रमणं स्यात् । अर्थाद् बक-वृषभ-गर्दभादिनिष्ठानां शुक्लत्वादिगुणानां, शाक-तण्डुलादिनिष्ठानां पाकक्रियाणां, यदृच्छारूपोपाधित्वेन कल्पितानां बाल-वृद्ध-शुक-पिकाद्युदीरितानां राम-श्याम-कृष्णादि-संज्ञाशब्दानाञ्च भेदः प्रत्यक्ष एव । यतो यः शुक्लत्वगुणो वृषभे, न स बके गर्दभे वा । एव या पचनक्रिया शाके, न सा तण्डुलादिषु । तथा च यच्छब्दोच्चारणं बाले, न तद् वृद्धे शुक-पिकादिषु वा दृश्यते । अतः प्रतिधर्मिभेददर्शनादत्रापि व्यक्तिशक्तिवादवच्छुक्लादिगुणशब्देषु, पाकादिक्रियाशब्देषु, राम-श्यामादिसंज्ञाशब्देषु च आनन्त्य-व्यभिचारप्रसङ्गः समापततीति ।

किन्तु गुण-क्रिया-यदृच्छानामौपाधिकत्वान्नैतद् युक्तियुक्तं वरीवर्ति । यथैकमेव मुखं जल-तैल-खड्ग-दर्पणादिषु केवलमालम्बनभेदतो नानाकारत्वेन दृश्यते, तथैव शुक्लादिगुणादीनाम्, पचनादिक्रियाणाम्, बालवृद्धाद्युदीरितानां राम-श्यामादियदृच्छाशब्दानां तत्तत्कारणसमग्र्युपजनित-वृषभ-बकाद्याश्रयवशाद् भिन्नत्वमपारमार्थिकमेव ज्ञेयम् । अर्थात् केवलमाश्रयवशादेव भिन्न इव प्रतीयते, परमार्थस्तु एक एव शुक्लत्वादिः सर्वत्र । व्यवहारेऽपि दर्शको वृषभ-गर्दभादीनां शौक्ल्यं, शाक-तण्डुलादीनां पचनं, बालवृद्धाद्युदीरितं शब्दञ्च केवलमेकेनैव

शुक्लत्व-पचनत्व-संज्ञाशब्दत्वरूपेण गृह्णाति, न पुनर्विभिन्नरूपेण। अतो गुणक्रियादिषु या भेदप्रतीतिर्न सा वास्तविकी, भ्रान्तिरेव केवलम्। अन्यच्चात्र प्रतिव्यक्ति नानागुणक्रियादिस्वीकारापेक्षया एकगुणक्रियादिस्वीकारे लाघवोऽपि विद्यते।

जातिशक्तिवादः पूर्वं मीमांसकाः कथयन्ति यच्छुक्लादिगुणानां पाकादिक्रियाणां राम-श्यामादिशब्दानाञ्च नौपाधिको भेदः, किन्तु पारमार्थिक एव। भेदो यदि औपाधिकोऽभविष्यत्तर्हि शुक्ति-रजत-रज्जुसर्पवदुत्तरकालेऽबाधिष्यत, परं न च बाध्यते। तथा च परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु शुक्लः शुक्लः, पाकः पाकः, रामः श्यामः —इत्याद्यनुगतप्रतीतिनिदानभूताः शुक्लत्व-पाकत्व-मोहनत्वाद्या जातय एव। तत्प्रवृत्तिनिमित्तकाश्च शुक्लादिशब्दा जातिवाचकशब्दा एव, न गुणादिशब्दाः। तथा च सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तम्।

अस्यायं संक्षेपो यद् वृषभे शौक्ल्यं तदन्यत्, बके चान्यत्, गर्दभादिषु चान्यदेव। एवमेतेषु सर्वेषु नैकविधमेव शौक्ल्यं, किन्तु पृथगेव। किन्तु यद्वशात् सर्वेष्वेवेदं शुक्लमिदं शुक्लमित्येकाकारज्ञानं भवति तत्रैव युक्तियुक्तः सङ्केतः। एवमेव भिन्नत्वेऽपि शाक-तण्डुलादि-पचनक्रियायाः पचनसामान्येनैकविधमेव पचनमिति प्रत्ययः। एवमेव च प्रतिव्यक्ति भेदमापन्नेषु राम-श्यामादिषु रामत्व-श्यामत्वादि सामान्यम्, तच्च जातिरूपम्। अतस्तत्रैव सङ्केतः समुचितः।

जातिविशिष्टव्यक्तिशक्तिवादः अथ नैयायिका जातिविशिष्टव्यक्तौ सङ्केतं स्वीकुर्वन्तो वदन्ति यत्र व्यक्तिमात्रं शक्तं

भवितुमर्हति व्यक्तीनां नानात्वाद् व्यभिचारदोषप्रसङ्गाच्च। न वा जातिमात्रमेव, एवं सति व्यक्तिभानाभावः। न चाक्षेपाद् व्यक्तिभानम्, वृत्त्यनुपस्थितस्यापि शाब्दबोधविषयत्वेऽतिप्रसङ्गात्। यतः पदवृत्तिज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितेरेव शाब्दबोधं प्रति कारणत्वम्। अतो जातिविशिष्टायामेव व्यक्तौ सङ्केतः सुसङ्गतः। न चात्र नानात्वाद् अशक्यता व्यभिचारो वा, वृषभत्वादिसामान्यलक्षणया सर्वव्यक्तीनामुपस्थितौ सर्वत्र सङ्केतग्रहसौकर्यात्। अत एवोक्तं न्यायसूत्रे—"जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः" इति।

अपोहशक्तिवादः बौद्धा हि जातेः प्रत्यक्षाभावाद् व्यक्तेश्च क्षणिकत्वात्तत्र सङ्केतं खण्डयन्तोऽतद्व्यावृत्तिरूपेऽपोहे विश्राम्यन्ति। अतद्व्यावृत्तत्वं च तद्भिन्नव्यावर्तकत्वम्। यथा वृषभादितो गर्दभादीनां यो व्यावर्तकः स एव अपोहः, तत्रैव च सङ्केतः समुचितः। अर्थाज्जातेरदृश्यतया विचारासहत्वाद् व्यक्तेश्च क्षणिकत्वादुभयत्रापि सङ्केतः कर्तुमशक्यः। तेन वृषभादिशब्दानामवृषभादिव्यावृत्तिरूपेऽपोहे एव सङ्केतः समुचितः—इति बौद्धाः।

(जाति-विशिष्ट-व्यक्तिवादस्य अपोहवादस्य च साहित्य—शास्त्रानुपयोगित्वम्)

शब्दार्थ-सङ्केतसम्बन्धे विभिन्नदर्शनानां विभिन्ना एव सिद्धान्ताः सन्ति। यथा न्यायदर्शनानुसारं तद्वान्=जातिविशिष्टरूपोऽर्थः, अथवा बौद्धदर्शनानुसारं शब्दस्यार्थोऽस्ति—अपोहः=अतद्व्यावृत्तिरूपोऽर्थः। एवमेव अन्यदर्शनानि अन्यविधमेवार्थं प्रदर्शयन्ति। परन्तु सर्वमिदं विभिन्नमतप्रदर्शनं साहित्यशास्त्रानुपयोगित्वमेव कलयन्ति, न तस्मात्साहित्यशास्त्रेष्वेतद्विधानां मतानां निरूपणमुपलभ्यते। एतन्निरूपणेन तु व्यर्थमेव

ग्रन्थाकारो वर्धते। यतः साहित्यशास्त्रस्य प्रधानमुद्देश्यं वरीयश्च व्यङ्गयोपपादनम्। काव्यप्रकाशो हि साहित्यशास्त्रिभिः सम्मानितो मूर्धाभिषिक्तः साहित्यशास्त्रग्रन्थः, तद्रचयिता च महानालङ्कारिको राजानकमम्मटो भट्टः। अत एव जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छात्मके उपाधि-शक्तिवादे व्यक्तेर्व्यङ्गयत्वसम्भवात्तन्मतनिरूपणं साहित्यशास्त्रोपयोगि सः अज्ञासीत्। उपहित-शक्तिवादस्य निरूपणं तु व्यङ्गयप्रतिकूलत्वान्न साहित्यशास्त्रोपयोगि समवगतं तेन। अत एव हि काव्यप्रकाशे सप्रुक्तं भट्ट-मम्मटेन—'तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्तः – इति ग्रन्थगौरव-भयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्' इति।

[उपाधिवादसम्बन्धिषु विभिन्नेषु मतेषु मम्मटाभिमतः पक्षः]

मम्मटभट्टो हि महानालङ्कारिको वैयाकरणमूर्धन्यश्च। अतो वैयाकरणमतानुगमनं व्यङ्गयोपपादनञ्चं तस्य मुख्यं लक्ष्यम्। उपाधिवादे हि व्यक्तेर्व्यङ्गयत्वसम्भवात् तस्य वादस्य वैयाकरणानुकूलत्वाच्च स एव वादो मम्मटाभिमतो विद्यते। अत एव अन्यमतेषु "केचित्" "इत्यन्ये" इत्यादिसामान्यप्रयोगैः सर्वत्रोपेक्षाभावमुद्भाव्य तेन उपाधिवादस्य स्थापने एव प्रमाणत्वेन महाभाष्यकारस्य भगवतः पतञ्जलेर्वाक्यमुद्धृतम् "गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" इति। पुनर्दशमोल्लासे च विरोधालङ्कारस्य दश विभागान् प्रदर्शयता तेन—

> जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणैस्त्रिभिः।
> क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥

अनया कारिकया तदेवोरीकृतम्।

यद्ययं मीमांसकानुसारी नैयायिकानुसारी वा स्यात्तदा मीमांसकादिमते पदार्थचतुष्टयाभावेन विभागानामनुपपत्तौ "ते दश" इति दशत्वसङ्ख्याकथनमेवास्यासङ्गतं स्यात्।

अथ प्रथमोल्लासेऽपि स ध्वनिकाव्यं प्रदर्शयन् महता समादरेण "बुधैर्वैयाकरणैः" इत्यंशमुद्धृतवान् । पुनश्च सप्तमोल्लासे—

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गम-भासिभिः ।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल ! तव चेष्टितम् ॥

इति विलष्टपदोदाहरणमुद्धरता तेन विपश्चिता वैयाकरणानुगामित्वमेवात्मनः स्वीकृतम् । अन्यथा 'शक्तं पदम्' इति पदलक्षणं कुर्वतां समासे शक्त्याभावं च वदतां नैयायिकादीनां मते 'अत्रिलोचन'०इत्यत्र शक्त्यभावात् पदत्वाभावेनास्य पदोदाहरणत्वमनुपपन्नमेव भवेत् । एतदतिरिक्तं मम्मटाचार्येण स्वाभिमतत्वादेव वैयाकरणानुमतो जात्यादिपक्षः प्रथमतः समुपन्यस्तः ।

अतो न जातौ, न वा व्यक्तौ, नापि जातिविशिष्टायां व्यक्तौ, नैव च तदितरव्यावृत्तौ च सङ्केतग्रहो मम्मटाभिप्रेतः, प्रत्युत वैयाकरणसम्मतो महाभाष्यप्रतिपादित उपाधावेव सङ्केतग्रहो मम्मटस्यापि सम्मतो विद्यते—इति सर्वथा निश्चितम् ।

अभिधा वृत्तिः

चतुर्विधः सङ्केतितोऽर्थ एव प्रथमं प्रतीयमानत्वात् मुख्यार्थः कथ्यते । अस्य चतुर्विधस्य सङ्केतितार्थस्यावबोधने च शब्दस्य यो व्यापारः स एव अभिधाव्यापारः, अभिधावृत्तिर्वा कथ्यते । अतोऽभिधीयते साङ्केतिकः शब्दार्थोऽनयेति निरुक्त्या साक्षात्सङ्केतितमर्थं बोधयितुं प्रवृत्ता शब्दशक्तिरभिधा, अथवा शक्त्यपरपर्यायः सङ्केतितार्थबोधजनको व्यापारोऽभिधेति निर्गलितोऽर्थः । अनया बोधितोऽर्थः शक्यार्थ-वाच्यार्थ-मुख्यार्थाभिधेयार्थनामभिर्व्यवह्रियते ।

केयमभिधेति जिज्ञासायाम्—अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः इतीश्वरेच्छासङ्केतः शक्तिरभिधेति प्राञ्चः, इच्छामात्रं शक्तिरित्यर्वाञ्चो नैयायिकाः, किन्तु वैयाकरणा मीमांसकाश्चेमां शब्दशक्तिं स्वतन्त्रपदार्थरूपामेव मन्वते, नेश्वरेच्छारूपाम् । वैयाकरणानामेवायं पक्ष आलङ्कारिकाणामपि सम्मतः, अन्यथा लक्षणापीश्वरेच्छैव किं न स्वीक्रियेत ।

सेयमभिधा त्रिविधा—केवलसमुदायशक्तिः,समुदायावयवशक्तिः सङ्करश्चेति। आद्याया अभिधाया डित्थ-कपित्थादिरुदाहरणम्,द्वितीयस्याः पाचक-पाठकादिः,तृतीयायाश्च पङ्कजादिः । एता एव क्रमशो रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । तत्र अखण्ड-

शक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः, अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः, उभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।

इयमभिधा वृत्तिर्यद्यपि मुख्या मूलभूता प्राचीनैः सर्वैरेव प्रायः समादृता ईश्वरोद्भाविता चापि मन्यते किन्तु साहित्यशास्त्रे त्वियं साधारणी अबुधजनप्रयोज्या च स्वीक्रियते। किमन्यत्, किमपि काव्यं यदि अभिधामात्रावसितं स्यात्तर्हि तस्य काव्यतैव न गण्यते। रसादीनामपि यद्यभिधया निरूपणं भवेत्तर्हि तत्र रसदोषः समुद्घुष्यते—इति सार्वजनीनमेव।

तात्पर्या वृत्तिः

वाक्यतत्त्वविदः कुमारिलभट्टमतानुयायिनो मीमांसका वाक्यार्थबोधनाय तात्पर्यनाम्नीं वृत्तिं स्वीकुर्वन्ति। तेषामनुसारं पदार्थातिरिक्तोऽप्येकोऽर्थो भवति तात्पर्यार्थः। स चायमर्थस्तात्पर्यया वृत्त्या प्रतिपाद्यते। इमे मीमांसका अभिहितान्वयवादिनः कथ्यन्ते। एषामस्त्ययं सिद्धान्तः—

अभिहितान्वयवादिनां मतम्

वाक्यार्थबोधनाय तात्पर्याख्या वृत्तिं मन्यमानानाम् "अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरभिधया प्रतिपादितानाम्, अर्थानामाकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् अन्वयो भवतीति वादिनाम्" (अभिहितान्वयवादिनां) कुमारिलभट्टादि-मीमांसकानामयमस्ति सिद्धान्तः—यत् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिः, न तु तेषां सम्बन्धेऽपि। अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः इति न्यायात् पदार्थानां सम्बन्ध आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिलभ्यतया न वाच्यो भवितुमर्हति, पदार्थमात्रं प्रतिपाद्य विरताया वृत्तेस्तत्सम्बन्धप्रतिपादनेऽक्षमत्वाच्च शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्। एष एव पदार्थानां सम्बन्धो वाक्यार्थः, अन्वयार्थः, शाब्दबोधः-इत्यादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्यते। यथा—'वृषभमानय' इत्यत्र वृषभवृत्तिकर्मत्वनिरूपकानुकूलकृत्याश्रयः प्रेरणाविषयस्त्वम्—इत्यर्थो बोध्यते। तत्राभिधया वृषभपदार्थः सास्ना-

लाङ्गूल-खुर-ककुदमती वृषभव्यक्तिः, अम् पदार्थः कर्मत्वम्, आनयनमानयतेरर्थः, प्रेरणा लोडर्थः, कृतिः सिवर्थः—इत्येतद्रूप एव सङ्केतार्थः प्रत्येक—भिन्नभिन्नपदवृत्त्यविषयः समुपस्थितो भवति। अभिधा चेमं सङ्केतितार्थं बोधयित्वैव विरता भवति। पुनश्च वृषभव्यक्तिकर्मत्वनिरूपकानयनानुकूलकृत्याश्रयः प्रेरणाविषयस्त्वम्—इति वाक्यार्थबोधेऽसङ्केतितस्यापदार्थस्य वृत्तित्वकर्मत्वानुरूपस्य कथमुपस्थितिः स्यादित्येतदर्थं तात्पर्या वृत्तिरावश्यकी।

अर्थाद् अभिहितान्वयवादिनो मीमांसका मन्यन्ते यदभिधया तु केवल पदार्थमात्रस्यैव बोधो जायते न वाक्यार्थस्य। यतोऽभिधा तु पृथक् पृथग्भूतस्यैकैकस्य पदस्यार्थं बोधयित्वैव विरमति। शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावादेषा पुनरुत्थाय सर्वेषां पदानां मिथः सम्बन्धने सर्वथा अशक्ता। अतस्तेषां सम्बन्धनाय तात्पर्या वृत्तिरपेक्षिता वर्तते। तात्पर्यायां वृत्तौ आकाङ्क्षा-योग्यताऽऽसत्तिवशात् पदानां मिथः समन्वयो जायते। यदि तात्पर्या वृत्तिर्न स्याद् केवलमभिधैव स्यत्तदा आकाङ्क्षा-योग्यताऽऽसत्त्यभावाद् गौरश्वः पुरुषो हस्तीति साकाङ्क्षपदानाम्, अग्निना सिञ्चतीति योग्यता-शून्यानां पदानाम्,प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानां गाम् — आनय, इत्यादिपदानामपि वाक्यत्वं प्रतिपद्येत, किन्तु न दृश्यते तल्लोके व्यवहारे च। अतः इयमेवेदृशी वृत्तिरस्ति या पृथक् पृथक् पदानि एकसूत्रे सङ्गृह्य तेषामर्थं प्रकटयति। अयमेवार्थश्च तात्पर्यार्थः कथ्यते। इममेवोद्दिश्य भट्टमम्मटेन लिखितम्—"तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्" इति। अयमेवास्ति अभिहितान्वयवादिनां सिद्धान्तः। "अभिहितान्वयवादिनाम्" इति बहुवचनप्रयोगेणायमेव पक्षो मम्मटसम्मतो बोध्यः। अत एवासौ काव्यप्रकाशस्य पञ्चमोल्लासे "ते चाभिधा-तात्पर्य-

लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः" तथा "अभिधा-तात्पर्य-लक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव" इति चोक्तवान्। बहुवचननिर्देशस्य स्वसंमतत्वप्रदर्शनपरत्वादेव चामुना तस्यैव चतुर्थोल्लासे "इति श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः" इत्यन्तग्रन्थांशेनोपपादितस्याभिनवगुप्ताचार्यसम्मतपक्षस्य बहुवचनश्रीमत्पदाचार्यपदैः स्वसम्मतमुक्तम्। किन्तु अभिधायाः स्थानं तु प्रथमं सङ्केतितार्थबोधकत्वात्। ततः परं द्वितीयं स्थानं तात्पर्यवृत्तेः। परन्तु यत्र अभिधेयार्थस्य बाधो भवति लक्षणा च समापतति तत्रास्याः स्थानं लक्षणोत्तरम्। लाक्षणिकप्रयोगेषु प्रथममभिधा ततो लक्षणा, तदनन्तरञ्च तात्पर्यावृत्तिरित्यवधेयम्।

अन्विताभिधानवादिनां मतम् वाक्यतत्त्वविदां मीमांसकानां ये खलु प्रभाकरमतानुयायिनः सन्ति ते वाक्यार्थबोधनाय अभिहितान्वयवादिनां मतमसहमानास्तात्पर्यनाम्नीं वृत्तिं तिरस्कुर्वन्तो वाच्य एव वाक्यार्थः इति निगदन्ति। इमे मीमांसकाः पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद् विशिष्टमर्थं द्योतयन्तीति वदन्ति, अत एव अन्विताभिधानवादिनः कथ्यन्ते।

वाक्यार्थावगमाय तात्पर्यवृत्तेरनावश्यकतां प्रदर्शयतां पदान्यन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं द्योतयन्तीति वदतां प्राभाकराणामस्त्ययमाशयः—"क्रियाकारकयोः प्रथमत एव अन्वय-(सम्बन्ध-) बोधो जायते, ततः शक्तिग्रहः। किं तात्पर्यवृत्तेरावश्यकत्वम्? अतोऽभिधाप्रतिपादितो वाच्यार्थ एव वाक्यार्थः" इति शाब्दबोधे हि अशक्त्युपस्थापितस्य समवायादिनोपस्थितस्य आकाशादेर्भानवारणाय वाक्यार्थस्यैव शाब्दबोधे भानमिति नियमोऽत्रा-

वस्यभङ्गोकर्त्तव्यः। तस्मिश्चाभ्युपेते शाब्दबोधविषयीभूतस्य पदार्थानामन्वयस्यापि शक्यत्वं दुर्वारम्। अशक्यत्वे तत्र तज्ज्ञानं न स्यात्। तथा च पदानां न पदार्थमात्रे शक्तिरपि तु अन्वय-विशिष्टे पदार्थे। अतोऽभिधयैव अन्वयोपपत्तौ को लाभस्तात्पर्य-वृत्तिस्वीकारेणेति।

व्यवहारतो बालस्त्रिभिः प्रमाणैः सङ्केतमवधारयति-प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या च। यथा 'देवदत्त गामानय' इत्यादिप्रयोजकवृद्धवाक्यमाकर्ण्य व्युत्पित्सुर्बालः प्रयोज्यवृद्धेन सास्ना-लाङ्गूलादिमन्तमर्थमानीयमानमवलोकयति, तदिदं कर्णाभ्यां वाक्यश्रवणरूपं नेत्राभ्यामन्वार्थदर्शनरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ततः 'अयं प्रयोज्यवृद्धो गवानयनकार्यताज्ञानवान्, तद्विषयक-चेष्टावत्त्वात्। यो हि यद्विषयकचेष्टावान्,स हि तद्विषयकज्ञानवान्, यथा स्तनपानादिचेष्टावानहम्" इत्येवं बालः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रयोजकवृद्धोक्तवाक्याभिज्ञत्वमनुमिनोतीति द्वितीयमनुमानं प्रमाणम्। अनन्तरञ्च "गामानय" इति वाक्यश्रवणाद् गवानय-नार्थज्ञानम् एतद्वाक्येन एतदर्थस्य वाच्यवाचकसम्बन्धं विना अनुपपन्नमित्यनुपपत्तिरूपया अर्थापत्त्या खण्डवाक्यार्थेन अखण्ड-वाक्यस्य वाच्यवाचकसम्बन्धमवधारयति बालः, तदिदमर्थापत्ति-नामकं तृतीयं प्रमाणम्।

इत्थं प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयेण शक्तिग्रहणे सति 'महिषीम् आनय' 'गां बधान' इत्यावापोद्वापाभ्यां यस्य वाक्यभागस्य येन वाक्यार्थभागेन सह अन्वयव्यतिरेकौ उपलभते, तत्र च तस्मिन् शक्तिमवधारयति बालः। अर्थात्'महिषीमानय, गां बधान' इति प्रयोगे महिष्या आनयनं गोर्बन्धनं चावलोक्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां क्रियापदार्थान्विते कारके कारकपदस्य,

कारकपदार्थयुक्तक्रियायां च क्रियापदस्य शक्तिमवधारयति बालः। ततः प्रयोगकाले प्रथमत एव तस्य अन्वितबुद्धिर्जायते। अतस्तदर्थं नास्ति वृत्यन्तरस्यावश्यकतेति।

किन्त्वत्रैव प्रतीयते यदयमन्विताभिधानसिद्धान्तो न भट्ट-मम्मटाभिमतः। यतः स काव्यप्रकाशे प्रथममभिहितान्वयवादि-नामेव सिद्धान्तमुपन्यस्तवान्, तत्रैव बहुवचनप्रयोगेण तत्रैव समादरं प्रकटितवान्। द्वितीय-पञ्चमोल्लासयोर्व्यञ्जनाप्रकरणे-ऽपि तात्पर्यवृत्तेः समुल्लेखं कृतवान्—' ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्ष-णाख्यो व्यापारान्तरेण गम्याः—"इत्यादि। अतो मम्मटोऽभिहि-तान्वयवादिनामेव पक्षं स्वीकरोति न पुनरन्विताभिधानवादिनां मतमिदम्।



लक्षणा वृत्तिः

यदा केनापि सता समुदीरितः शब्दोऽभिधया प्रचलितं स्वमर्थमवबोध्यापि तात्पर्यानुपपत्त्या अन्वयानुपपत्त्या वा वक्तुरभि-मतार्थप्रतीतिसिद्धयें नालं भवति तदा तदनुकूलः कश्चिदन्य एवार्थो गृह्यते। अस्मिन्नर्थान्तरे तत्=लाक्षणिक=शब्दप्रयोगो

वक्त्रा कस्यैचित् फलसिद्धचै प्रसिद्धव्यवहारपरम्परातो वा क्रियते। न हि केनापि 'गङ्गायास्तटे घोषः' इति वक्तव्ये 'गङ्गायां घोषः' इति व्यवह्रियते। तेन सिध्यति यत् प्रथममभिधया वृत्त्या पदार्थज्ञाने सञ्जाते तात्पर्यया वृत्त्या च पुनर्वाक्यार्थेऽवगतेऽपि यत्र वक्तुरभिमतार्थेऽनुपपन्नता समुत्पद्यते तत्रास्याः प्रवृत्तिः।

लक्षणालक्षणम् लक्षणाप्रवृत्तेर्निमित्तकोटौ मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थसम्बन्धः, रूढि – प्रयोजनयोरन्यतरच्चेति त्रयमधिरोहति। अत एवोक्तं—

> मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
> अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ इति

अर्थाद् येन शब्देनाभिधावृत्तिप्रतिपादितस्य वाक्यार्थस्य वक्तृतात्पर्यानुपपत्तिरूपे बाधे समुपस्थिते, बाधितस्य मुख्यार्थस्य तादर्थ्यकार्यकारणादिरूपसम्बन्धे च सञ्जाते प्रचलितव्यवहारतः, अथवा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ शैत्यपावनत्वादिरूपफलाद्, मुख्यार्थातिरिक्तोऽनभिधेयार्थो यया शक्त्या प्रतिपाद्यते सा आरोपिता व्यापाररूपा क्रिया लक्षणा शक्तिरिति कथ्यते।

अत्र हि अभिधामूलायाः शाब्दीव्यञ्जनाया वारणाय मुख्यार्थबाधोऽपेक्षितः। मुख्यार्थसम्बन्धाभावे च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ यमुनातटादेरपि भानं स्यात्। रूढि—प्रयोजनान्यतरशून्यत्वे च लाक्षणिकशब्दप्रयोगे 'करोति ते मुखं तन्वि! -चपेटापातनातिथिम्' इतिवन्नेयार्थदोषापत्तिः। अतो मुख्यार्थबाधादिहेतुत्रयोपस्थितिरेव लक्षणाप्रवृत्तौ निमित्तम्।

तत्रादौ मुख्यार्थबाधो लक्षणायाः प्रथमकोटिप्रविष्टो हेतुः। स च तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिताया अभाव एव, न तु शक्यार्थतावच्छेदकत्वे तात्पर्यविषयान्वितावच्छेदकताया अभावः। अन्यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ लक्षणानुत्थानापत्तिर्मुख्यार्थबाधाभावात्। अत्र तु केवलं वक्तुस्तात्पर्यबोधाभावो गृहीतः। अतस्तात्पर्यानुपपत्तिरेवावधेया।

यद्यपि व्यञ्जनायाः प्रतीतिरपि शक्यार्थभिन्नस्यैवार्थस्य, परं न सा मुख्यार्थसम्बन्धमन्वेति। एवमभिधेयार्थभिन्नायाः शक्तेः स्मृतिरपि न मुख्यार्थसम्बन्धेन। शक्यार्थेन व्यञ्जनाजनितबोधस्य कश्चित्सम्बन्धः कथञ्चिद्भवत्येव, परं न स लक्षणावद् व्यञ्जनायां हेतुरूपो भवतीति।

अत्रायं निष्कर्षः— यत्र कुत्रापि कस्मिन्नपि शब्दे समुदीरिते मुख्यया शक्त्या प्रतिपाद्येऽर्थे वक्तुस्तात्पर्याभावादन्वयाभावाद्वा मुख्यार्थस्य बाधे सति तस्य च प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाधितस्य मुख्यार्थस्यामुख्येन (गङ्गायां घोषः इत्यत्र तटादिना) अर्थेन सह सामीप्यादिरूपसाक्षात्सम्बन्धे सति रूढिप्रयोजनान्यतरस्य च हेतुत्वे शब्दनिष्ठोऽशक्यार्थबोधनानुकूलो यः कल्पितो व्यापारः स एव लक्षणेत्युच्यते। तेन च मुख्यार्थबाध-मुख्यार्थसम्बन्ध-रूढिप्रयोजनान्यतरहेतुकत्वे शक्यतावच्छेदकातिरिक्तधर्मावच्छिन्नार्थबोधजनकव्यापारो लक्षणेति संक्षेपः।

अत्रेदमप्यवधेयम्। "शक्यसम्बन्धो लक्षणा" मुख्यार्थबाधो, रूढिप्रयोजनान्यतरच्चेति द्वयमस्याः कारणमिति मुक्तावलीकारादयोऽर्वाञ्चः। "शक्यसम्बन्धेन अशक्यप्रतीतिर्लक्षणा" मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थसम्बन्धः, रूढिप्रयोजनयोरेकतमं चेति त्रयमस्या

हेतुरिति मीमांसकादयः प्राञ्चः। एवं चार्वाचां मते तु अशक्यप्रतीतिहेतुर्लक्षणा, द्वयञ्च तस्याः कारणम्। प्राचां मते च अशक्यप्रतीतिरेव लक्षणा, त्रयञ्च तस्या निमित्तम्। अनयोः को मम्मटाभिमतः पक्षः? इत्यपि किञ्चिद् विविच्यते—

लक्षणाशब्दो हि द्विविधया भङ्ग्या व्युत्पाद्यते— 'लक्ष्यतेऽनया अन्योऽर्थः इति करणव्युत्पत्त्या, "लक्षण लक्षणा" इतिभावव्युत्पत्त्या च। करणव्युत्पत्तिरेव चेयं प्राचां सम्मतेति निर्विवादं तद्विदाम्। तत्र मम्मटाभिमतः पक्षः करणव्युत्पत्तेरेव प्रतीयते। अत एव हि तेन प्रयोजनवतीगौणीसारोपालक्षणायाः गौर्वाहीकः' इत्युदाहरणस्य विवेचनस्थले "साधारणगुणाश्रयेण परार्थो वाहीकः एव लक्ष्यते" इत्युल्लिख्य—

"अभिधेयाविनाभूत – प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥"
(तन्त्र वा० १।४।२२)

इति कुमारिलभट्टस्य वाक्यं प्रमाणत्वेन विन्यस्तम्। प्रतीयतेऽर्थोऽनयेति करणव्युत्पत्त्यैव प्रतीतिशब्दस्यात्र निरुक्तिः स्पष्टैव। एवञ्च काव्यप्रकाशस्य व्याख्याकारेण गोविन्दठक्कुरेणापि लक्षणालक्षणव्याख्यानेऽस्य प्राचीनानामनुयायित्वमेव प्रतिपादितमित्यपि न तिरोहितं साहित्यविदाम्। यद्यपि "शक्यसम्बन्धेन अशक्यप्रतीतिर्लक्षणा"—इति न प्रकाशकृता लक्षणालक्षणमाहतम्, परम् "अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिः (अशक्यप्रतीतिः) लक्षणा" इति प्राचां मतं प्रमाणत्वेन समुद्धृत्य तत्रैव पक्षपातं प्रकटीकुर्वता प्रकाशकृता तदेवोरीकृतमिति निर्बाधम्।

लक्षणाभेदाः सेयं लक्षणा सप्तविधा मम्मटनये । तथाहि—रूढा प्रयोजनवती च प्रथममियं द्विविधा । तत्र रूढा त्वेका, प्रयोजनवती तु षोढा । सा चेत्थं विभज्यते—पूर्वं प्रयोजनवतीयं द्विधा :— शुद्धा गौणी चेति । तत्र गौणी तु सारोपा साध्यवसाना चेति द्वेधैव । शुद्धा पुनश्चतुर्विधा—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना चेति ।

एतेषां भेदानां निर्व्यङ्ग्यायाः रूढायाः साहित्यशास्त्रे न कुत्रचन उपयोगिता दृश्यते व्यङ्ग्यशून्यतया प्रयोजनराहित्यात् । अतो नैनया कोऽपि ध्वनिरलङ्कारो वा प्रवर्त्तते, अनयोर्ध्वन्यलङ्कारयोश्चमत्कृतिजनकत्वात् तस्या रूढायाश्च व्यङ्ग्यशून्यत्वात् । 'प्रयोजनवत्या' भेदानां शुद्धोपादानलक्षणाया उपयोगोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनौ, शुद्धाया लक्षणलक्षणाया उपयोगोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनौ भवति । केषाञ्चिन्मते च शुद्धे सारोपासाध्यवसाने हेत्वलङ्कारे उपयुज्येते । गौणीसारोपाया उपयोगो रूपकालङ्कारे, गौणीसाध्यवसानायाश्चोपयोगो रूपकातिशयोक्त्यलङ्कारे भवतीति ।

अथ लक्षणाभेदानामेषां लक्षणोदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते—

रूढा रूढिः, प्रसिद्धिः, प्राचीनपरम्परा चेत्येकार्थाः । यत्र प्रसिद्धेः कारणाच्छब्दस्य वाच्यार्थातिरिक्तस्तत्सम्बन्धी कश्चन अर्थो गृह्यते तत्र रूढा लक्षणा । यथा "कर्मणि कुशलः" ।

अत्र चित्रकर्मणि कुशलशब्दस्य "कुशान् लातीति कुशलः" इति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो वाच्यार्थो वर्त्तते । स च चतुरेऽर्थे प्रकृते कुशग्रहणाद्ययोगादसम्भवन् बाधितस्वरूपो

विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनि चतुररूपेऽर्थे लाक्षणिकः। प्रचलितप्रसिद्धव्यवहारप्रयोगादियं रूढा लक्षणा।

प्रयोजनवती यत्र कस्यचन विशेष प्रयोजनस्य सिद्धये लाक्षणिकशब्दस्य प्रयोगो वक्त्रा क्रियते तत्र प्रयोजनवती लक्षणा। इयं हि गौणीशुद्धाभ्यां विभज्य गौण्याः सारोपा—साध्यवसानाभ्यां भेदाभ्यां, शुद्धायाश्च अजहज्जहत्सारोपासाध्यवसानभेदैश्च विभक्ता सती षड्विधत्वं प्राप्नोतीत्युक्तचरमेव। तत्रोपचारमिश्रता गौणी, उपचारामिश्रिता च शुद्धा। उपचारश्च भिन्नत्वेन प्रतीयमानयोरैक्यारोपणम्। यथोक्तमभियुक्तैः—अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः इति। तेन मुख्यार्थ-लक्ष्यार्थयोः सादृश्यसम्बन्धे गौणी, सादृश्यातिरिक्तसामीप्यादिसम्बन्धे च शुद्धेति प्रतिपन्नम्। अतएवोक्तं—

"भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ॥इति (का०प्र २)

अत्र लाघवात् प्रथमं गौणीभेदौ विविच्येते—

प्रयोजनवती गौणी सारोपा विषय-विषयिणोः पृथङ्निर्दिष्टयोरभेदारोपेण सह वर्तमाना सारोपा। अर्थाद् विषयस्य विषयिणश्च यत्र सप्रयोजनं कण्ठतो निर्देशस्तत्र सारोपा। गुणसादृश्याद्धि सप्रयोजनं यत्रास्याः प्रतीतिस्तत्र प्रयोजनवती गौणी सारोपा भवतीति। यथा 'गौर्वाहीकः'। अत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या गोत्वार्थस्य, वाहीकशब्दश्चाचारबहिष्कृतपुरुषस्य वाहीका-

भिधदेशविशेषस्य वा बोधकः । गोत्वस्य वाहीके पुरुषविशेषेऽन्-न्वयाद्-मुख्यार्थबाधः । एवं गोशब्दस्य तद्युक्तो वाच्यार्थभिन्नो मूर्खोऽर्थो गृहीतः । वाहीकस्य जाड्यातिशयनिरूपणञ्च प्रयोजनम्। एतयोर्गुणेषु सादृश्याच्चेयं गौणी ।

अत्र हि राजानकमम्मटो लक्षणाव्यापारविवेचकानामा-चार्याणामुपर्युक्ते उदाहरणे कतिचन मतभेदान् प्रदर्शयन्नाह। तत्र प्रथमं मतमुपन्यस्यति—"गौर्वाहीकः" इत्यत्र गोशब्दो लक्षणया गोत्वसहचारिजाड्यमान्द्यादिगुणान् बोधयति, लक्षणया बोध्यमानाश्च ते गुणा गोशब्दस्य वाहीकाभिधाने (अभिधया वाहीकस्य बोधने) प्रवृत्तिनिमित्तत्वं (कारणतां) प्राप्नुवन्ति । अर्थात् प्रथमं लक्षणया जाड्याद्युपस्थितिः, ततोऽभिधया वाहीकस्य बोधः । गोशब्दो हि भिन्नार्थकत्वाद् वाहीकेन सहानुपपद्यमानसामानाधिकरण्यत्वेन बाधितमुख्यार्थः सन् गोत्वसहचारित्व सम्बन्धेन जाड्यमान्द्यादिगुणान् (लक्षणया) लक्षयित्वा तानेव प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य अभिधया वाहीकं बोधयति ।

अत्रास्मिन् मते हि—"जाड्यमान्द्यादिगुणवदभिन्नो वाहीकः" इति शाब्दबोधो जायते ।

कतिपयेऽत्रोक्तशाब्दबोधे गोशब्दस्य वाहीकार्थेऽसङ्केतित-त्वाद् गोगतगुणानां लक्ष्यतावच्छेदकतया वाहीकार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तस्याभावरूपामरुचिं मनसि निधायेदं मतान्तरं समुपन्यस्यन्ति—

"गौर्वाहीकः" इत्यत्र गोशब्देन गोत्वसहचारिगुणान साधारण्यात् साजात्येनाभेदेन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्षणया बोध्यन्ते । गुणिनश्चाविनाभावमूलकेनानुमानेनाक्षेपो भवति,

गुण-गुणिनोरविनाभावसम्बन्धात् । न ह्यत्र गोशब्दात् वाहीकार्थोऽभिधया वृत्त्या बोध्यते ।

द्वितीयेऽस्मिन् मते "गोगतजाड्यमान्द्यादि-सजातीयजाड्यमान्द्यादि गुणवान् वाहीकः" इति शाब्दबोधो जायते ।

परमेतदपि मतमतिचारुत्वं नाभूत् कतिपयविदुषाम् । कथयन्ति ते—"शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते" इति न्यायादविनाभावलभ्यस्य लक्ष्यार्थस्य वाक्यार्थेऽन्वयाभावसम्भवः, एकधर्मिबोधकाभावेन 'गौर्वाहीक' इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्चेत्यतः प्रदर्शयन्ति ते स्वकीयं मतमेवम्—

"गौर्वाहीकः"—इत्यत्र गोशब्दो लक्षणया जाड्यमान्द्यादिसाधारणधर्मसम्बन्धितं वाहीकार्थं बोधयति । तेन च सह वाहीकाभेदः समुपपद्यते । जाड्यमान्द्यातिशयबोधनञ्च प्रयोजनं सिध्यति । अतो नान्या गौणी वृत्तिः ।

अस्मिन् मते हि जाड्यमान्द्यादिगुण-विशिष्टे लक्षणासत्त्वान्न सामानाधिकरणानुपपत्तिः ।

तृतीयमते त्वत्र "गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसमान-जाड्यमान्द्यादिगुणाश्रयो वाहीकः" इति हि शाब्दबोधः ।

त्रयाणामेषां मतानामयमस्ति निष्कर्षः :—

प्रथममते गोशब्दो लक्षणया गोगत-जाड्यमान्द्यादि गुणान् बोधयति ।

द्वितीयमते गोशब्दो लक्षणया वाहीकगतजाड्यमान्द्यादिगुणान् बोधयति, न पुनः गोगतगुणान् बोधयति ।

तृतीयेमते गोशब्दो लक्षणया वाहीकमेव बोधयति, न गुणान् बोधयति । इति

तृतीयमेवेदं मतं मम्मटसम्मतम् अपरे अर्थात् न परे अपरे इति लेखनात्।

उपर्युक्तेषु मतान्तरेषु यदिदमन्तिमं मतं वर्तते, यदनुसारञ्च गोपदेन महामूर्खो वाहीक एव लक्ष्यते तदेव मतं युक्तिसङ्गतं मम्मटाभिमतञ्चापि प्रतीयते। यतोऽत्र महामीमांसकस्य कुमारिलभट्टस्यापि सूक्तिरेका समुपलभ्यते काव्यप्रकाशे। यथा—

अभिधेयाऽविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥ इति ।

सम्बन्धसमन्वयार्थमस्याः कारिकायाः पूर्वं सोऽयं कारिकार्धभागोऽपि पठनीयः—"मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।" इति ।

अयमर्थः। मुख्यार्थस्य स्वीकारे प्रत्यक्षादिना विरुद्धे सति वाच्येन सम्बन्धप्रतीतिर्लक्षणा निगद्यते। यथा "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र जलप्रवाहरूप-मुख्यार्थस्य स्वीकारे घोषाधिकरणत्वस्यासम्भवात् प्रत्यक्षविरुद्धे सति प्रवाहाविरूपवाच्यार्थेन यो वै तटादिप्रतीतिकरणभूतो व्यापार स एव लक्षणाशब्देन व्यपदिष्टो भवति। अथ पुनर्गौणी वृत्तिस्तु लाक्षणिकबोधविषयैर्गुणैर्योगाद् (सम्बन्धात्) भवति। यथा 'गौर्वाहीकः' इत्यत्रोक्तलक्षणारीत्या लाक्षणिकबोधविषया जाड्यमान्द्यादयो ये गुणास्तत्सम्बन्धाद् गोशब्दस्य वाहीकार्थोपस्थापकता या वृत्तिस्तस्या गौणता—इति ।

अत्राविनाभावसम्बन्धेन सम्बन्धमात्रं ग्राह्यं, न नान्तरीयकम्। नान्तरीयकं हि "येन विना यदनुपपन्नम्" अर्थात्तत्सत्तानियतसत्ताकत्वं नान्तरीयकत्वम्। यथा जातिव्यक्त्योर्नान्तरीयकता न तथा वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थयोरिति भावः। नान्तरीयकत्वाङ्गीकारे तु 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यत्र न लक्षणाप्रवृत्तिः। यतो न तत्र मञ्चस्थानां मञ्चेन सह जातिव्यक्तिवदविनाभावसम्बन्धः। एवं चाविनाभावेऽनुमानेनैव सिद्धे लक्षणाया न कोऽप्युपयोगो भविष्यतीति।

प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना विषयनिगरणेन विषयिणोऽभेदज्ञानमध्यवसानम्। आरोपविषये आरोप्यमाणेन निगीर्णे सति साध्यवसाना लक्षणा। यथोक्तं काव्यप्रकाशे—"विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका" इति।

अर्थाद् अपृथङ्निर्दिष्टे विषये विषयभेदेन अध्यवसानेन सह वर्तमाना साध्यवसाना। गुणसादृश्याच्च सप्रयोजनं यत्रास्या लक्षणायाः प्रवृत्तिस्तत्र प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षणा भवति। यथा "गौरयम्" इत्यत्र गौर्विषयी=उपमानं वर्तते। तद्द्वारा च विषयस्य (वाहीकस्य=मूर्खस्य) सर्वथा अध्यवसानं कृतम्। सर्वथैवाभेदागमश्चात्र प्रयोजनम्। द्वयोर्गुणसादृश्याच्चेयं गौणी।

प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा यत्र लक्षणा विषयविषयिणोः कण्ठतो निर्देशपूर्वकं सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धात् सप्रयोजनं प्रवर्तते तत्र प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा। यथा—

आयुर्घृतम् । अत्र आयुर्जनकत्वाद् घृतमायुःशब्देन लक्षितं भवति । प्रयोजन्यजनकभावसम्बन्धः । तेनायुरभिन्नं घृतमिति बोधो जायते । जनकान्तरवैलक्षण्येन (क्षीरादिवैसादृश्येन) कार्यकारित्वं प्रयोजनम् ।

प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना यत्र विषयनिगरणपूर्वकं सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धात् सप्रयोजनं लक्षणायाः प्रवृत्तिस्तत्र प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना । यथा "आयुरेवेदम्" अत्र तु इदमिति शब्देन पुरोवर्तिरूपेणैव घृतादेरुपस्थितिः । न तु घृतत्वादिरूपेणेति नात्र निगरणाभावकृतशङ्का ।

अन्यानि उदाहरणानि गौणी-शुद्धोदाहरणेषु प्रयोजनं समन्वता मम्मटेन यैरुदाहरणैः कार्यकारणभावादिसम्बन्धाः अन्यथा अन्यान्युदाहरणानि निम्नाङ्कितक्रमेण समवधेयानि—

उदाहरणम्	लाक्षणिकशब्दः	प्रयोजनम्	सम्बन्धः	लक्ष्यार्थः
इन्द्रः पूज्यते	इन्द्रः	इन्द्रप्रदत्वम्	सादृश्यसम्बन्धः	इन्द्राभिरूपाः
राजा करं निनुते	राजकीयः पुरुषः	अलङ्घनीया—देशत्वम्	स्व-स्वामिभाव०	राज्ञः पुरुषः
अपहृताः	हृता	बलाधिक्यम्	अवयवावयविसं०	हस्ताग्रम्
कुम्भस्तक्षा	तक्षा	तत्कर्मनिपुणत्वम्	तत्कार्यकारित्व सं०	तक्षकर्मकारिन्

सारोपा-साध्यवसानयोरन्तरम् विषयनिष्ठासाधारणधर्म-प्रतिपत्तिसहकृतान्यस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिः सारोपा, विषयनिष्ठा-साधारणधर्मप्रतिपत्त्यसहकृतान्यस्यान्य तादात्म्यप्रतीतिः साध्य-वसाना। एवं हि लक्ष्य-वाचकपदभावमात्रेण आरोपाध्यवसान-व्यवहारः। तेन च विषयस्य विषयिणश्च कण्ठतो निर्देशात् सारोपा, विषयस्य सामान्यवाचिना सर्वनाम्ना निर्देशेऽपि विशेषरूपेणानुपस्थितो साध्यवसाना लक्षणेति।

प्रयोजनवती शुद्धा उपादानलक्षणा यत्र शक्यार्थस्यान्वय-सिद्धयेऽशक्यार्थस्याक्षेपस्तत्रो।ादानलक्षणा। अर्थात् स्वार्थस्य अपरित्यागपूर्वकं परार्थोपस्थापने उपादानलक्षणाभवति। स्वार्थस्य अपरित्यागादेवेयं लक्षणा 'अजहत्स्वार्था' इत्यप्यभिधीयते। यथा—"कुन्ताः प्रविशन्ति" अत्र कुन्तशब्दस्य तन्नामकशस्त्र-विशेषे शक्तिः, प्रविशन्तीत्यस्य पदस्य च कुन्तकर्तृकेऽन्तःप्रदेश-संयोगानुकूले प्रवेशव्यापारे। तस्यास्य कुन्तास्येऽचेतने शस्त्र-विशेषेऽन्वयासम्भवान्मुख्यार्थबाधः, तेन च तत्सम्बन्धिनः कुन्तिनो नराः प्रयोजनवत्या उपादानलक्षणया बोध्यन्ते। कुन्तगततैक्ष्ण्यस्य निर्दयं प्रहर्तृत्वादिकस्य कुन्तगतबाहुल्यस्य वा प्रतीतिः प्रयोज-नम्। स्वार्थापरित्यागपूर्वक-परार्थग्रहणेनेयमुपादानवती लक्षणा। कुन्त-कुन्तधारिणोः सादृश्यातिरिक्त-संयोगसम्बन्धाच्चेयं शुद्धा।

अन्यदुदाहरणम्—"आम्रं तु आम्रमेव। अहं तु अहमेव हि" इत्यादि। अत्राद्ये उदाहरणे द्वितीयमाम्रपदं लाक्षणिकम्। अस्य वाच्यार्थः प्रसिद्धमाम्रफलम्। लक्ष्यार्थश्च सरसत्वादिगुण-

वदाम्रफलम् । अस्मिश्च लक्ष्यार्थे सामान्यस्याश्ररूपस्य स्वार्थस्यापरित्यागादियमुपादानवती । सरसतादिगुणानामतिशयबोधनञ्च प्रयोजनम् ।

मीमांसकोद्धृतोदाहरणखण्डनम् अत्र मण्डनमिश्रा मीमांसकाः प्रयोजनवत्या उपादानलक्षणाया उदाहरणमुद्धरन्ति— "गौरनुबन्ध्य" इति । तेषामयमाशयः—मीमांसकानां मते जातावेव सङ्केतसत्त्वादभिधया जातेरेव बोधः । एवञ्च "गौरनुबन्ध्यः" इत्यत्र गोशब्देन गोत्वरूपाया जातेरेव बोधो भविष्यति, तस्माज्जातेरनुबन्धनम् (आलम्भनम्) अवयवित्वविरहादशक्यम्। अनुबन्धनञ्च वेदवचनादावश्यकम्, अतोऽत्र मुख्यार्थबाधः, तेन च गोत्वरूपाया जात्याः सम्बन्धिनी व्यक्तिर्लक्षणया गृह्यते, न त्वभिधया । यतस्त्वभिधा जातिशब्देन व्यक्तेर्बोधने सर्वथाऽसमर्था विशेषणे एव क्षीणशक्तिकत्वात् । उक्तञ्चाभियुक्तैः— "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इति ।

परमत्र मम्मटो भट्टो व्याहरति यन्नेदमुदाहरणमुपादानलक्षणाया उदाहरणीयं मीमांसकैर्मण्डनमिश्रैरिति । यतो लक्षणायाः प्रवृत्तिस्तत्रैव भवति यत्र मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थसम्बन्धः, रूढिप्रयोजनान्यतरहेतुश्च भवति । मीमांसकानुसारं "गौरनुबन्ध्यः" इत्यत्र मुख्यार्थबाधः—जातेरनुबन्धनस्य अशक्यत्वम्, सम्बन्धश्च जातेराश्रिता गोव्यक्तिः, परमिह न रूढिः, नापि च 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यत्र कुन्तगततैक्ष्ण्यस्य प्रतीतिवत्,गङ्गायामित्यादि प्रतीतिवद्वा किञ्चत् प्रयोजनम् । अतोऽत्र गोव्यक्तेः प्रतीतिर्जातिव्यक्त्योरविनाभावसम्बन्धस्य सिद्धत्वेन व्यक्तिं विना जातेरभावाद् अविनाभावमूलकेन अनुमानेनैव भवति, नहि पुनर

पादानलक्षणयेति। लक्षणां विना अविनाभावेनानुमानेन जात्या व्यक्तेः प्रतीतिरन्यत्रापि भवति। यथा—क्रियताम् इत्यत्र कर्त्ता स्वयमाक्षिप्यते।'कुरु' इत्यत्र कर्म स्वयमाक्षिप्तं भवति।'प्रविश' इत्यत्र गृहम्, 'पिण्डीम्' इत्यत्र च भक्षयेति स्वयमाक्षिप्यते—इति। अतो मीमांसकानां तदिदमुदाहरणमिह सर्वथा असङ्गतम्।

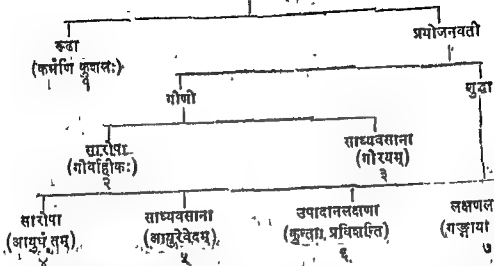
अथ पुनर्ये विद्वांसः 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र दिवा भोजनाभावे पीनत्वसिद्धये रात्रिभोजनं लक्षणया साधयन्ति तत्राप्याह मम्मटः—नास्त्यत्रापि लक्षणायाः प्रवृत्तिः। यद्यपि दिवा भोजनाभावसहितं पीनत्वमनुपपन्नमित्यत्र मुख्यार्थबाधः, रात्रिभोजनस्य पीनत्वस्य च कार्यकारणसम्बन्धः, दिवा भोजन-रहितोऽप्ययं पीनः—इति ,पुरुषवैशिष्ट्यादिप्रदर्शनं प्रयोजनञ्चा-पीह विद्यते तथापि श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा विषयत्वेन मुख्यार्थ-बाधासम्भवाभाव लक्षणाप्रवेशः। अर्थात् दिवा भोजनाभावं विना पीनत्वमनुपपन्नमित्यनुपपत्त्या 'रात्रौ भुङ्क्ते' इति शब्दो भाट्टमते श्रुतार्थापत्त्या प्राभाकरमते च तदर्थमात्रमर्थापत्त्या स्वयं कल्प्यते, न पुनर्लक्षणयेति सोऽयं विषयः श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा बोध्यो न लक्षणायाः। अपि च लक्षणायां सत्यां गौरवदोषः पुन-रर्थापत्तौ च लाघवमित्यप्यवधेयम्। श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेश्चेदं स्वरूपं निरूपयन्ति शास्त्रविदः—यत्र अनुपपद्यमानः शब्दः शब्दान्तरं कल्पयति सा श्रुतार्थापत्तिः, यत्र च दृष्टः श्रुतो वा अर्थोऽर्थान्तरं कल्पयति सा अर्थापत्तिरिति।

प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणलक्षणा यत्राशक्यस्यान्वयबोधार्थं शक्यार्थस्य त्यागो भवति तत्र लक्षणलक्षणा। अर्थात् स्वार्थ-

परित्यागपूर्वकं परार्थोपस्थापनं लक्षणलक्षणा । अत एवेयं जहत्स्वार्थेत्यपि कथ्यते । यथा—गङ्गायां घोषः। अत्र गङ्गाशब्दो विशिष्टजलप्रवाहे घोषकर्तृकायाः प्रतिवसनक्रियाया अधिकरणभावं गन्तुमसमर्थः स्वार्थाविनाभूतं तटं लक्षयति । अर्थात् गङ्गाशब्दस्य विशिष्टोदकप्रवाहरूपोऽर्थः, घोषशब्दस्य च गोपग्रामरूपोऽर्थो वाच्यार्थौ भवति परं ग्रामस्य गङ्गोदकप्रवाहे स्थितिरसम्भवति तत्कूलार्थो लक्षणया गृह्यते । गङ्गाधिकरणत्वप्रयोगो न प्रयोजनमन्तरेण केनापि सता समाहृतः, प्रत्युत घोषे शीतत्वपावनत्वादिप्रतीत्यै । अत एवेयं प्रयोजनवती । गङ्गा-तटयोः सादृश्येतर-सामीप्यसम्बन्धाच्चेयं शुद्धा ।

यद्यपि 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्देन प्रत्यायितं स्रोतस्तीरं लक्षयतीत्यर्थव्यापारो लक्षणा, न तु शब्दव्यापारस्तथापि वाच्यधर्मो वाचके शब्दे समारोप्यते । अत आरोपितक्रियाशक्तिः शब्देऽपि वर्तत एवेत्यतः शब्दोऽपि लाक्षणिकः । इत्यप्यवधेयम् । इयं जहत्स्वार्थेति विपरीतलक्षणाया अप्यत्रैवान्तर्भावः ।

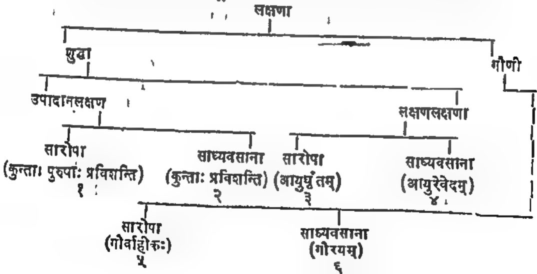
एवमुक्तप्रकारेण प्रयोजनवती लक्षणा षड्विधा भवति । रूढिसहिता च सप्तधा जायते । इमे भेदाः सोदाहरणा निम्नाङ्किते चित्रे विलोकनीयाः—



लक्षणाविभागक्रमे मतान्तरम्

अस्मिन्नुपरि निर्दिष्टे लक्षणाविभागक्रमे उपादानलक्षणलक्षणा-रूपयोर्भेदयोः सारोपत्वस्य साध्यवसानत्वस्य च सत्त्वात् सारोपसाध्यवसानरूपयोर्लक्षणत्वस्य उपादान-

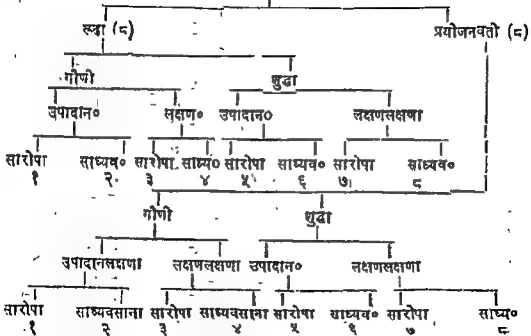
त्वस्य चसत्वात् साङ्कर्यापत्तिं प्रदर्शयन्तः कतिचन सन्तः लक्षणाया भेदानेवं निर्दिशन्ति—प्रथमं लक्षणा द्विविधा—शुद्धा गौणी च। शुद्धाऽपि उपादान-लक्षणलक्षणाभ्यां विभक्ता सती प्रत्येकं सारोपा-साध्यवसानाभ्यां विभज्य चतुर्धा सम्पद्यते। गौणी लक्षणा च सारोपासाध्यवसानाभ्यां द्विविधा। एवं षड्विधा लक्षणा। विभागस्यास्य सोदाहरणः संनिवेशक्रमश्चित्रेऽस्मिन् निभालनीयः—



मतान्तरखण्डनम् उक्तप्रकारेण शुद्धायां विभक्तायाम् अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च ध्वनेर्न कुत्राप्यवकाशः, उपादानलक्षणालक्षणलक्षणयोः सारोपासाध्यवसानाख्यभेदयोः पर्यवसानात्वात्। अर्थाद् यत्र यया उपादानलक्षणया अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो ध्वनिः प्रवर्त्तते तत्रापि यदि सारोपासाध्यवसानाभिधावेव भेदौ तर्हि तत्र रूपको रूपकातिशयोक्तिश्चेमावेवालङ्कारौ स्यातां न ध्वनिः। एवमेव लक्षणलक्षणयाऽपि यत्र अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिर्भवति तत्रापि यदि सारोपा-साध्यवसानाख्यावेव भेदौ तर्हि तत्रापि तावेवालङ्कारौ प्रवर्त्ततां न ध्वनिः। अतो लक्षणामूलध्वनेरुच्छेदकत्वान्न समीचीनोऽयं विभागक्रमः।

लक्षणाविभागक्रमे विश्वनाथः अथ पुनः साहित्यदर्पणकारो विश्वनाथो लक्षणाविभागमन्यथैव मनुते। तस्यायं क्रमः—लक्षणा तावद् द्विविधा-रूढिः प्रयोजनवती च। अनयोरपि गौणीशुद्धाभ्यां प्रत्येकं द्वैविध्यं जायते। तत्र रूढा लक्षणा गौणी-शुद्धाभ्यां विभक्ता सती उपादान-लक्षणलक्षणाभ्यां प्रत्येकं विभज्य चतुर्धात्वमुपगता पुनः प्रत्येकं सारोपा-साध्यवसानाभ्यां विभक्ता सती अष्टधा सम्पद्यते। एवं गौणी-शुद्धाभ्यां विभक्ताया रूढाया येऽष्टौ भेदास्त एव गौणी-शुद्धाभ्यां द्वैविध्यमापन्नायाः प्रयोजनवत्या अपि भवन्ति। परमत्रेदं वैशिष्ट्यम्। प्रयोजनवत्या इमेऽष्टौ भेदा व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वेन षोडशविधा भूत्वा धर्म-धर्मिगतत्वेन पुनः प्रत्येकं द्वैविध्यमुपयाता द्वात्रिंशद्विधाः सम्पद्यन्ते। इत्थं द्वात्रिंशद्भेदत्वमुपगतेयं प्रयोजनवती अष्टाभी रूढिलक्षणाभिः सह चत्वारिंशद्विधा जायते। ततोऽपि पदवाक्यगतत्वेन अशीतिर्भेदा

लक्षणाया भवन्ति विश्वनाथमते । ते चेमे भेदा अधस्ताच्चित्रे विलोकनीया:—



सोऽयं विश्वनाथनिरूपितो लक्षणाभेदप्रपञ्चो निरर्थकश्चमत्कारशून्योऽनुपयोगो च प्रतीयते । यथाहि—

रूढाया यद्भेदाष्टकमभ्युपपन्नं तदनुचितमेवास्ति, निरूढाया रूढिमूलकत्वेन व्यङ्ग्यशून्यतया तद्भेदप्रपञ्चस्य प्रयोजनरहितत्वात् । प्राचीनास्तु शुद्धा गौणीति भेदद्वयमपि रूढाया न स्वीकुर्वन्ति । कथयन्ति ते यदत्र सादृश्यसम्बन्धो वा तदितर सम्बन्धो मूलेऽस्या भवतु नाम, परन्तु रूढलक्ष्यशब्दप्रवर्तनं पारम्परिकभाषाप्रवाहाधीनमेव,न तत्र लेशतोऽपि वक्तुः स्वातन्त्र्यम् । अत एव निरूढलक्षणाविषये 'अभिधावृत्तिमातृकायां काव्यप्रकाशे च कुमारिलभट्टस्य पद्यमिदमुदभियत—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानतः ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥ इति ।

तात्पर्यञ्चैतस्यैतदेव यत्प्रयोजनवत्या इव न रूढलक्षणायाः प्रवृत्तिः कस्यचन वक्तुर्वशवर्तिनी, तस्याः पारम्परिकभाषाप्रवाहसम्पाद्यत्वात् । तदेवंविधे व्यतिकरे स एष निरूढाया भेदप्रपञ्चो विद्यार्थिजनक्लेशवर्धनमात्रफलक एवेति ।

अथेह किञ्चित् प्रयोजनवत्या भेदेष्वपि विचार्यते । तत्र हि गौण्या उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति भेदद्वयं न समीचीनं प्रतीयते । यतः गौणी सदा लक्षणलक्षणैव भवति नोपादानलक्षणा । उपादान लक्षणायां हि मुख्यार्थरूपस्य स्वार्थस्य अपरित्याग आवश्यकः, अन्यथोपादानत्वमेव न स्यात् । स च सादृश्यस्य लक्षणामूलत्वे (प्राचीनमतेनैतत्) न सम्भवति स्वार्थस्य अपरित्यागे सादृश्यास्यसम्भवत्वात् । तदस्य सादृश्यसत्त्वे स्वार्थत्यागस्य सर्वथा अपेक्षितत्वेन सादृश्ये उपादानलक्षणात्वं न सम्भवत्येव । अन्त्ये सादृश्येतरसम्बन्धसत्त्वे कथं गौणी, सादृश्यसम्बन्धप्रयुक्त-

लक्षणाया एव गौणीत्वात्। तस्माद् गौण्या उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति भेदद्वयकल्पनमसमीचीनम्। तस्याःसर्वदा लक्षणलक्षणात्वेन तादृशभेदासम्भवात्। तेन मम्मटाभिमतया प्राचीनपरिपाट्या सारोपा, साध्यवसानेति भेदद्वयमेवौचित्यमवगाहते। ततश्च नाष्टविधत्वं गौण्याः प्रत्युत षड्विधत्वमेवेत्यलं प्रपञ्चितेन।

अथ गूढव्यङ्ग्यस्य कतिपयजनमात्रवेद्यत्वात्, अगूढव्यङ्ग्यस्य तु सकलजनसंवेद्यत्वाच्चमत्कारतारतम्यं पश्यतां षड्विधायाः प्रयोजनवत्याः प्रत्येकं द्विविधत्वेन द्वादशविधत्वं भवेदित्यभ्युपगन्तव्यम्। किन्तु धर्म-धर्मिगतत्वेन पदवाक्यगतत्वेन च भेदप्रकल्पनं निरर्थकमेव। अशीतिभेदेषु विश्वनाथाभिमतेषु कतिपये त्वसम्भविनः कतिचन च चमत्कारशून्या निरर्थका अपि सन्त्येव। लक्षणाया वस्तुतोऽर्थसम्बन्धत्वेन साक्षात् पदवाक्यगतत्वाभावात्, धर्म-धर्मिगतत्वादिकल्पनाश्च जातिगुणक्रियाद्रव्यादिगतत्वेनापोहशनिरर्थकानेकभेदप्रकल्पनसंभवाच्चेति दरमुकुलितनयननलिनैर्विज्ञैर्विचारणीयम्।

लक्षणायाः व्यञ्जनकृतो भेदप्रकारः

उपरिनिर्दिष्टो लक्षणाभेदप्रकार उपाधिकृतः। व्यञ्जनकृतेन भेदप्रकारेणेयं त्रिविधा— अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च। तत्र रूढा त्वव्यङ्ग्या प्रयोजनवती च गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या—इति त्रिप्रकारा।

गूढव्यङ्ग्योदाहरणं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥

पद्येऽस्मिन् कविना इन्दुवदनाया ललनायाः शरीरे तारुण्याविर्भाव... विकसितस्वरूपः पुष्पधर्मः स्मिते, वशीकरणरूपश्चेतनधर्मः प्रेक्षिते, समुच्छलनरूपो मूर्तधर्मो विभ्रमे, मर्यादापरित्यागश्चेतनधर्मो मतौ, मुकुलितत्वकुसुमधर्मः स्तनयोः, उद्धुरत्वचेतनधर्मो जघने, मोदश्चेतनधर्मश्च तरुणिमोद्गमे बाधितः सन् विभिन्नसम्बन्धैः सौरभादिव्यङ्ग्यविशेषान् लक्षयति । ते च व्यङ्ग्यविशेषा अधस्ताच्चित्रे निभालनीयाः—

वाक्यम्	मुख्यार्थबाधः	मुख्यार्थसम्बन्धः	प्रयोजनम्	लक्ष्यार्थः
मुख विकसितस्मितम्	विकसनं पुष्पधर्मः तस्य स्मिते बाधः	असंकुचितत्वसाधर्म्यसम्बन्धः	सौरभादिव्यङ्ग्यम्	किंचिदुल्लासावस्थत्वं सातिशयत्वं वा
वशितवक्रिमप्रेक्षितम्	वशितत्वं चेतनधर्मः तस्य प्रेक्षिते बाधः	अभिमतविशेषप्रवृत्तिसम्बन्धः	उचितपुरुषानुरागित्वम्	स्वाधीनत्वम्
समुच्छलितविभ्रमा (गतिः)	समुच्छलनं मूर्तधर्मः, तस्य विभ्रमे बाधः	प्रयोज्यप्रयोजकभावः कार्यकारणरूपो वा सम्बन्धः	अभियोगयोग्यत्वं व्यङ्ग्यम्	बाहुल्यम्
अपास्तसंस्था मतिः	संस्थानं चेतनधर्मः तस्य मतौ बाधः	हेतु-हेतुमद्भावसम्बन्धः	गुरुजनसन्निधौ अपलोकगोपनम्	अधीरत्वम्
मुकुलितस्तनम् उरः	मुकुलितत्वं पुष्पधर्मस्तस्य स्तनयोर्बाधः	निविडावयवत्वसम्बन्ध	आलिङ्गनयोग्यत्वं रूपातिशयत्वं वा व्यङ्ग्यम्	काठिन्यम्
जघनमंसस्पृशोद्धुरम्	उद्धुरत्वं चेतनधर्मस्तस्य जघने बाधः	गुणगुणिभावः, भारसहनक्षमत्वं वा सम्बन्धः	उपभोगयोग्यवयस्कत्वं व्यङ्ग्यम्	विलक्षणरतियोग्यत्वम्
तरुणिमोद्गमो मोदते	प्रमोदश्चेतनधर्मः तस्य तरुणिमोद्गमे बाधः	जन्यजनकभावसम्बन्धः,	स्पृहणीयत्वं व्यङ्ग्यम्	अनियन्त्रणीयत्वम्

पद्येऽत्र प्रतिपादितानि सौरभादिव्यङ्ग्यानि काव्यवासना-परिपक्वबुद्धेः सहृदयस्यैव जाग्रतीति अगूढव्यङ्ग्योदाहरणपद्य-मिदम् ।

पद्यमिदं प्रयोजनवत्युपादनलक्षणामूलस्य [अविवक्षित-वाच्यस्य] अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनेर्वाक्यगतमुदाहरणमपि ज्ञेयम् । अगूढव्यङ्ग्यलक्षणोदाहरणं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥

अत्रोपदेशकत्वं शब्दविशेषप्रयोक्तृत्वं यौवनमदे अनुपपन्न-मित्याविष्कारं लक्षयता उपदिशतिपदेन अनायासेन शिक्षादान-मभिव्यज्यते । तच्च सहृदयेतरैरपि अभिधेयवद् वेद्यमित्यगूढ-व्यङ्ग्यलक्षणोदाहरणमिदम् ।

इदमेव काव्यं लक्षणामूलस्य अगूढगुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदा-हरणत्वमपि भजते ।

एवमाभ्यां गूढव्यङ्ग्यागूढव्यङ्ग्यभेदाभ्यां षोढा प्रयोजन-वती प्रत्येकं द्विधा सती द्वादशविधा सम्पद्यते । संहृत्य च लक्षणायास्त्रयोदशभेदा मम्मटसम्मता निरूपिताः ।

व्यञ्जना वृत्तिः

व्यञ्जनालक्षणम् सर्वविदितमेवेदं यत् काव्यस्य जीवातु-भूतो व्यङ्ग्यार्थ एव । एतदर्थबोधिका वृत्तिश्च व्यञ्जना । नायमर्थो विना वृत्तिमेनां कदाचिदपि अन्यया वृत्त्या बोधयितुं शक्यते । यतः 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नियममनुसृत्य वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ-तात्पर्यार्थबोधोपक्षीणासु अभिधा-लक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु पुनरन्योऽर्थ एतद्वृत्ति-त्रयवेद्यविलक्षणो यया वृत्त्या बोध्यते सा एव वृत्तिः शब्दार्थोभय-निष्ठा व्यञ्जना व्यपदिश्यते ।अत एवोक्तं विश्वनाथेन—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यतेऽपरः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥ इति ।

व्यञ्जनाया आवश्यकता अपि च लक्षणायां प्रयोजनप्रति-पादनमपि व्यञ्जनयैव जायते । न हि एतामन्तरेण काचिदन्या वृत्तिः प्रयोजनं प्रतिपादयितुं शक्ता । तदुक्तं मम्मटेन—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥ इति ।

अर्थाद् 'गङ्गायां घोषः' इत्युदाहरणे यस्य शैत्यपावनत्वादि-रूपस्य फलस्य प्रतीतिमाधातुं सत्यपि वाचकशब्दे तं परित्यज्य

लाक्षणिकः शब्दः समाद्रियते तस्मिन् लाक्षणिकशब्दमात्रगम्ये शैत्यपावनत्वादिरूपे फले व्यञ्जनामतिरिच्य नास्ति कश्चन अन्यो व्यापारः। यथाहि गङ्गायां घोषः इत्यादौ गङ्गादिशब्दस्य तीरादौ लक्षणायां कृतायां शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनप्रतिपादनेऽपि यद्यभिधादिरेव कल्पितो व्यापारो भवेत् न व्यञ्जनाख्यव्यापारस्तर्हि महान् अनर्थपातः स्यात्, यतः "सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च" इति प्रामाण्यादभिधा सङ्केतितमेवार्थं बोधयति। न हि अत्र 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ ये शैत्यपावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः सन्ति, ते तु जलप्रवाहरूपेऽर्थे सङ्केतिताः सन्तः पुनरन्यत्र सङ्केतं ग्रहीतुमनर्हा एव, "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इति नयेनैकत्र सङ्केतितानां शब्दानां पुनरन्यार्थविबोधे समुपक्षीणशक्तित्वात्।

विशेषणे जातिरूपे उपाधौ विरतव्यापाराया अभिधाया व्यक्तिरूपस्य धर्मिणो बोधेऽसामर्थ्यम्। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दो घोषशब्दश्च क्रमशो जलप्रवाहे गोपालग्रामे च सामान्यतः सङ्केतितौ स्तः। आभ्यां हि पानीयप्रवाह-गोपालग्राममात्रार्थस्यैव प्रतीतिः। न तदतिरिक्तान्यार्थप्रतीतौ तयोः सामर्थ्यमिति तु पूर्वमुक्तचरमेव। ततश्च गङ्गाघोषपदशब्दाभ्यामभिधया पानीयप्रवाहमात्रं गोपालग्रामटिकामात्रञ्च प्रतीयते—इति प्रथमं सोपानम्, ततस्तात्पर्यशक्त्या विशिष्टं सामान्याधाराधेयभावेनावस्थितं परस्परान्वितत्वमात्रं प्रतीयते—इति द्वितीयं सोपानम् पानीयप्रवाहे गोपालग्रामाधारत्वस्यासम्भवाद् गङ्गाशब्दस्तदाधारयोग्यं तटं लक्षणया लक्षयतीति तृतीयं सोपानम्। किन्तु यत्पुनरिदं तटस्य शैत्यपावनत्वादिरूपं प्रयोजनं प्रतीयते तत् कया शक्त्या, कया वा वृत्त्या केन वा व्यापारेण व्यज्यते?

तस्मादस्त्येव गङ्गाशब्दस्य कश्चन अन्यो विशिष्टव्यापारः स्वीकरणीयो निर्व्यापारस्यार्थबोधकत्वाभावात्। परं स व्यापारो नाभिधात्मा सङ्केताभावात्, न तात्पर्यात्मा तस्य त्वन्वयप्रतीतिमात्र एवोपक्षीणत्वात्। न च लक्षणात्मा मुख्यार्थबाधादिरहितत्वात्। तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थसोपानसंनिविष्टो व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनाव्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यञ्जनप्रभृतिव्यपदेशनिरूपितः सर्वैरेव स्वीकरणीयः।

व्यङ्ग्यस्य नाभिधागम्यत्वम् अथ पुनर्व्यञ्जनावृत्तिमसहमानाः कतिचन आचार्या अभिधयैव व्यङ्ग्यार्थबोधं स्वीकुर्वन्ति, परे तात्पर्यां वृत्तिमेव तदर्थमलं मन्यन्ते, अन्ये च लक्षणागम्यमेव व्यङ्ग्यार्थमवगच्छन्ति, किन्तु सर्वेषाममीषां मतजातं हास्यायैव। तत्र प्रथममभिधैव विचारणीया—

अभिधाभिधया वृत्त्या व्यङ्ग्यार्थबोधस्य द्वौ प्रकारौ भवितुं शक्नुतः — वाच्यार्थेन सहैव व्यङ्ग्यार्थस्य बोधः, अथवा प्रथमं वाच्यार्थस्तदनन्तरं च व्यङ्ग्यार्थावगमः। परं वाच्य-व्यङ्ग्ययोराकाशपातालवद् बृहदन्तरं वर्तते, यतो वाच्येन सहैव व्यङ्ग्यबोधप्रकारे वाच्योऽर्थः सर्वसाधारणः, व्यङ्ग्यार्थस्तु नानारूपो भासते। अतो न द्वयोरर्थयोः सहसङ्घटनं युक्तिसङ्गतम्। यथा—

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरी-कच्छ-कुञ्ज-वासिना दृप्तसिंहेन॥

अत्र 'भ्रम' इति वाच्यस्य विधिरूपकत्वम्, 'मा गम' इत्यस्य व्यङ्ग्यस्य च निषेधरूपकत्वं विद्यते। तथा—

श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक ! रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि ॥

अत्र 'मा निमङ्क्ष्यसि' वाच्योऽर्थः प्रतिषेधरूपकः, 'समागमिष्यसि' इति व्यङ्ग्योऽर्थस्तु विधिरूपकः। एवमेव—

कस्य न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमर-पद्मघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

अत्रोपालम्भरूपस्य वाच्यविषयस्यैकत्वेऽपि नायिका-सङ्कूर्त-सपत्नी-जारादिबोद्धभेदेन व्यङ्ग्यविषयस्य विभिन्न-विषयता वरीवर्त्ति।

'अस्तं प्रयातो रविः' अत्र वाच्यार्थः सूर्यास्तमनरूपः सर्वत्र सर्वदा सर्वान् प्रति एकरूप एव, परं व्यङ्ग्यार्थस्तु तत्तत्प्रकरण-वक्तृ-प्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया विभिन्नतां भजते। यथा—अभिसरणं समारभ्यतामिति अभिसारिकां नायिकां प्रति, प्राप्त-प्रायस्ते प्रेयान् इति वासकसज्जां प्रति, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यता-मिति श्रोत्रियं प्रति, दूरं मा गाः इति पथिकं प्रति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति वणिजं प्रति, न समागतोऽद्यापि प्रियः इति पर्युत्सुकां प्रति, एवमनवधिर्व्यङ्ग्यार्थस्तत्र तत्र व्यज्यते—इत्यु-भयोरर्थयोः सङ्ख्याभेदः।

वाच्यार्थावगमो व्याकरण-कोषादिरूपशब्दानुशासनज्ञानेन, व्यङ्ग्यार्थबोधस्तु प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेनेति निमित्तभेदः। वाच्यार्थः पूर्वं भवति, व्यङ्ग्यार्थस्तु सदा पश्चाद् भवति—इति कालभेदः। वाच्यार्थः शब्दाश्रयः, व्यङ्ग्यार्थस्तु शब्द-तदेकदेश-तदर्थ-वर्णसङ्घटनाश्रयः—इति द्वयोराश्रयभेदः।

एवं सत्स्वप्येतदादिषु विधिनिषेधादिरूपेषु भेदेषु यदि न भेदो वाच्यव्यङ्ग्ययोस्तर्हि नीलपीतहरितकृष्णादिष्वपि न कोऽपि भेदः। अतो न कदाप्यभिधया वृत्त्या वाच्येन सहैव व्यङ्ग्यार्थबोधो भवितुं शक्नोति । अत उच्यते—

बोद्धृ-स्वरूप-सङ्ख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम् ।
आश्रय-विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥इति।

अथ 'अभिधया प्रथमं वाच्यार्थबोधस्तदनन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोधः' एवंविधो द्वितोयपक्षोऽपि विचारहीन एव । यतः "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः", "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे," "सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति" इत्यादिसिद्धान्तानुसारं सकृद् व्यापारं विधाय वाच्यार्थमुपस्थाप्य च क्षीणशक्तिका विरतव्यापारा वृत्तिरभिधा न भूयो व्यङ्ग्यार्थमवगमयितुं सामर्थ्यं बिभर्ति । एतदतिरिक्तमेषा "अभिधा" केवलं सङ्केतितमेवार्थं बोधयति, व्यङ्ग्यार्थस्तु नास्ति सङ्केतितोऽर्थः । अतो नैवाभिधया शक्त्या व्यङ्ग्यबोधो भवितुं समर्थ इति स्पष्टम् ।

मीमांसकमतानां निराकरणम् अथ भट्टलोल्लटादयो मीमांसाचार्या अपि व्यञ्जनां तिरस्कुर्वन्तः'अभिधयैव' व्यङ्ग्यार्थबोधं साधयितुमचेष्टन्त । काव्यप्रकाशस्य टीकाकारा इमान् 'भट्टमतोपजीविनां भट्टलोल्लटादीनाम् अभिमतं पक्षम् आशङ्कते' इत्युल्लिख्य अभिहितान्वयवादिनो मन्यन्ते। किन्तु ध्वन्यालोकस्य टीकाकारैः 'सोऽप्यन्विताभिधानवादी०" इत्याद्युल्लिख्य इमे अन्विताभिधानवादिनोऽमन्यन्त । इमे युक्तिद्वयमुपस्थापयन्ति—

"यत्परः शब्दः, स शब्दार्थः" तथा "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः" इति च ।

मीमांसकत्वेनैते मीमांसाशास्त्रस्य 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इमं नियमं व्यञ्जनोच्छेदे समाश्रित्य यदर्थे यस्य शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थः इत्येवं बोधयन्तः "निःशेषच्युतचन्दनं०" इत्यादौ प्रसिद्धे पद्ये नायकान्तिकगमनरूपो विधिस्तात्पर्यविषयतया वाच्य एव, न पुनर्व्यङ्ग्यः—इत्यभिदधति ।

परममी मीमांसका महात्मान उक्तं नियमं नात्र समुचितेऽर्थे प्रयुक्तवन्तः । वस्तुतो महाशया इमे स्वार्थं साधयितुमन्यथारूपेणास्य व्याख्यानं व्यतानिषुः । मीमांसाशास्त्रस्य तूक्तनियमोल्लेखने तात्पर्यमिदं वर्तते यद् वाक्यान्तर्वर्ति—पदार्थेषूपस्थितेषु सिद्धरूपाणां प्राप्ततया 'विधानमनर्थकम्' इति साध्यरूपस्यैव विधेयत्वम् । यस्य च विधेयत्वं तद्वाक्यस्य तत्रैव तात्पर्यम्, यस्मिंश्च तात्पर्यं स एव वाक्यार्थः । तदर्थस्य बोधनार्थं तद्वाक्यं प्रयुक्तम् । तदंशस्य प्रमाणान्तराप्राप्ततया तदंशो एव तद्वाक्यस्यानवगतार्थबोधकत्वेन प्रामाण्यनिर्वाहः—इति ।

मीमांसाशास्त्रोपवाक्यव्याख्यायां न्यायो यद् वाक्यान्तर्वर्तिपदार्थेषूपस्थितेषु तेषु कतिचन तु क्रियारूपाः कतिचनश्च सिद्धरूपाः पदार्था भवन्ति । तेषु साध्यरूपाः क्रियापदार्था एव विधेया भवन्ति । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मीमांसासूत्र १।२।१) इत्यनुसारं 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादीनि विधिवाक्यानि क्रियारूपस्य हवनस्यैव विधानं वितन्वन्ति । यत्र हवनादिक्रिया प्रमाणान्तरेण प्राप्ता भवति तत्र तदुद्देश्येन गुणमात्रस्य विधानमपि विधत्ते । यथा 'दध्ना जुहोति' अस्मिन् विधौ हवनरूपक्रियाया विधानं नास्ति । यतोऽत्र हवनं तु 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यनेन

विधिवाक्येन प्राप्तमस्त्येव। अतोऽत्र केवलं दधिरूपगुणस्य विधानं वर्त्तते। यत्र च क्रिया द्रव्यं च द्वयमपीदमप्राप्तं तत्र द्वयोरप्येतयोः क्रियाद्रव्ययोर्विधानं भवति। यथा 'सोमेन यजेत' इत्यत्र सोम-द्रव्यस्य यागस्य च द्वयोरप्यप्राप्तयोर्विधानमस्ति। एवं हि भूत-भव्ययोः (सिद्धसाध्ययोः) सहोच्चारणे भूतं (सिद्धं) भव्याय (साध्यार्थतया) उपदिश्यते। अर्थाद् अज्ञातं ज्ञाप्यते। सिद्धपदार्थः क्रियाया अङ्गभूतो भवति। यत्र च यावानंशोऽप्राप्तो भवति तत्र तावानेवांशोऽदग्धदहनन्यायेन विहितो भवति। स एव हि तस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतोऽर्थो भवति। यथा तृणास्तृतभस्मनि पतितो वह्निरदग्धमेव तृणं दहति न तु दग्ध भस्म तथा साध्य-युक्तसिद्धेषु साध्यमेव विधीयते न तु सिद्धम्। एवं न केवलं वेदे एव, अपितु लोकेऽपि विधेरप्राप्तांशे एव तात्पर्यं भवति। यथा "आचार्यम् उत्थितं समर्चितं प्रणम" इत्यत्रोत्थानार्चनयोः प्राप्तौ प्रणमनमात्रस्य विधानम्। "आचार्यमुत्थितमर्चयित्वा प्रणम" इत्यत्रोत्थानप्राप्तौ अर्चनप्रणमनयोर्विधानम्। "आचार्यमुत्थाप्य अर्चयित्वा प्रणम" इत्यत्र त्रिविधिरपि ज्ञेयः।

मीमांसकैः 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' नियमोऽयमस्मिन्नेवंरूपे प्रयोगे व्यवहारे वा प्रायुज्यत परं मीमांसाशास्त्रस्य रहस्यानभिज्ञैः भट्टलोल्लटादिविज्ञैरभिधया वृत्त्या व्यङ्ग्यार्थ-बोधने य उक्तनियमः समुद्धृतः स सर्वथा असङ्गतः।

पुनरिमे अभिधया व्यङ्ग्यार्थबोधने "सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधाव्यापारः" इति वाचोयुक्तिमुपस्थापयन्ति। अयमस्त्ये-तद्भावो यथा केनचन शूरेण प्रक्षिप्त एक एव बाणः एकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण शत्रोर्वर्म चर्म मर्म च छिनत्ति प्राणहरणञ्च विधत्ते तथा सुकविना प्रयुक्त एक एव शब्द एकेनैवाभिधाभि-

येन व्यापारेण पदार्थोपस्थितिमन्वयबोधं व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिञ्च जनयति। अतो व्यङ्ग्यत्वाभिमतस्यार्थस्य वाच्यत्वमेव विद्यते,नाभिनवाया व्यञ्जनावृत्तेरावश्यकतेति। परन्त्वभिधाया-दीर्घदीर्घतरेणैव व्यापारेण यदि व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिस्तर्हि अलं तात्पर्याश्रयेण लक्षणाश्रयेण च,दीर्घदीर्घतरेणाभिधाव्यापारेणैव तात्पर्यार्थस्य लक्ष्यार्थस्यापि च सिद्धेः।

यदि भट्टलोल्लटादयोऽभिहितान्वयवादिनः सन्ति तर्हि ते तात्पर्यां वृत्ति स्वीकुर्वन्त्येव। यदि च तेऽन्विताभिधानवादिनः सन्ति तर्हि—

> मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे।
> अभिधेयाविनाभूत-प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥

इति कुमारिलभट्टकृत-जैमिनिसूत्र-वार्त्तिकानुसारं लक्षणावृत्तिमपि ते मन्यन्त एव। अवस्थाद्वयेऽप्यभिधाव्यापारेणैव व्यङ्ग्यार्थबोधे लक्षणाशक्तेस्तात्पर्यवृत्तेश्च स्वीकारस्तेषां कृते वदतो व्याघातः।

अथ च शब्दश्रवणानन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति सर्वत्र यदि शब्दस्य अभिधाव्यापार एव स्यात्, न पुनर्व्यञ्जनाव्यापारस्तर्हि—"मित्र! पुत्रस्ते जातः, परं कुमारी ते गर्भिणी" इत्यादिवाक्यश्रवणानन्तरं यौ हर्षविषादौ भवतस्तौ हर्षविषादौ प्रति तद्वाक्यं कारणतां याति, परन्तु तद्धि कारणं तदुत्पत्ति प्रति वर्त्तते, न पुनर्ज्ञप्ति प्रति। तद् वाक्यं हर्ष-विषादयोरुत्पादकं कारणमस्ति ज्ञापकं नास्ति। शब्दश्रवणानन्तरमभिधयैव सर्वविधेष्वर्थेषु बाधितेषु तु हर्षविषादादीनामपि वाच्यत्वं भविष्यति। परन्त्विमे हर्षविषादादयो वाक्येन तु समुत्पन्ना भवन्ति, मुख-

प्रसादमालिन्यादिचिह्नै रनुमानात् प्रत्याय्यन्ते । हर्षविषादादीनां वाच्यत्वस्वीकृतिं तु मीमांसका अपि न मंस्यन्ते, का कथा पुनः सहृदयानां साहित्यिकानाम् । अतो बाणस्येव दीर्घदीर्घतरेणाभिधाव्यापारेणैव व्यङ्ग्यार्थबोधकथनं सर्वथैवाविचारिताभिधानम् ।

अपि च दीर्घदीर्घतरे अभिधाव्यापारे स्वीकृते तु मीमांसादर्शनस्यैव "श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इति सूत्रानुसारी प्रमुखसिद्धान्तोऽपि कूपे पतिष्यति । यतो भगवता जैमिनिना निरणायि यद्यथाक्रममुक्तानां श्रुतिलिङ्गादीनामेकत्रोपनिपाते परपरस्य विलम्बेनार्थोपस्थापकतया दुर्बलत्वं पूर्वपूर्वस्य श्रुत्यादेश्च प्राबल्यम्—इति । यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरोपस्थितान् सर्वानेव प्रत्ययान् प्रत्यभिधैव व्यापारः स्यात् तदा श्रुत्युपस्थापितस्यार्थस्येव लिङ्गाद्यनुगृहीतार्थानामप्यभिधेयतया सर्वेषां समकालमर्थोपस्थापकत्वप्रसक्त्या अर्थविप्रकर्षाभिधानं जैमिनिमुनेरनुचितं स्यात् । अर्थात् भट्टलोल्लटानुसारं दीर्घदीर्घतरेणाभिधाव्यापारेणैव व्यङ्ग्यार्थे स्वीकृते तु श्रुतिलिङ्गादिभिर्ये अर्था उपस्थिता भवन्ति यदा ते सर्वे एवैकेन दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव बोधिता भविष्यन्ति तदा पुनस्तेषु दौर्बल्यस्य प्राबल्यस्य च काचन कथैव न स्थास्यति, तत्सूत्रनिर्माणमपि वैयर्थ्यं यास्यति च । अतो मीमांसकानां भट्टमहोदयानां सेयमपि वाचोयुक्तिर्मीमांसादर्शनस्यैव सिद्धान्तस्यास्योपरि कुठाराघातमाचरन्ती अग्राह्या भवति ।

अथ पुनर्भट्टलोल्लटस्यापरः पुच्छभूतः कश्चन मीमांसकोऽन्यां युक्तिमुररीकृत्य व्यञ्जनां निराकर्तुं प्रयतमानः कथयति—यत् 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति न्यायाद् व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरपि केनापि निमित्तेनैव भवति; निमित्तान्तरानुप-

लब्धेश्च शब्द एव तत्र निमित्तम्। शब्दश्चाभिधावृत्त्यैव तदर्थं बोधयितुं शक्नोति, नान्यः पन्थास्तदर्थम्। अतोऽभिधयैव व्यङ्ग्यार्थबोधे जाते किं व्यञ्जनयेति ?

परमिदमपि तत्कथनं कुमतिविलसितमेव। यतोऽभिधा तु सङ्केतितमेवार्थं द्योतयति। यद्यभिधया व्यङ्ग्यार्थज्ञानमभीष्टं तर्हि प्रथमं स व्यङ्ग्यार्थे सङ्केतितमर्थं स्वीकरोतु। किन्त्विदं सर्वथा तन्मतविरुद्धं भविष्यति। इदमपि चानेन मीमांसकेन कथयितुं न शक्यते यन्निमित्तभूतशब्देष्वेव सङ्केतग्रहस्यावश्यकत्वं न पुनर्नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थप्रतीतौ, व्यङ्ग्यप्रतीतिर्हि विनैव सङ्केतग्रहं जायते—इति। यदि विनैव वृत्तिव्यापारं शब्दस्य निमित्तत्वं स्यात्तदा स्वलमभिधा-लक्षणाद्याश्रयेणापीति।

एवमपि बोध्यम्। कस्यचन मीमांसकस्य कथनमस्ति यद् व्यङ्ग्यप्रतीतिर्नैमित्तिकी। निमित्तान्तरानुपलब्धेश्च शब्द एव निमित्तम्। तच्च बोध्य-बोधकत्वरूपनिमित्तत्वं विना वृत्तिं न सम्भवतीत्यभिधैव वृत्तिः "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" इति न्यायात्। अतः किं व्यञ्जनाव्यापारेण ? अत्र कथयन्ति व्यञ्जनापक्षपातिनः। भवतु नाम शब्दो निमित्तः, परन्तु द्विविधयोर्निमित्तयोः [illegible] कारकनिमित्तः अथवा ज्ञापकनिमित्तः? कारकरूपं निमित्तं तु न भवति तस्य शब्दस्य प्रकाशरूपत्वात्। ज्ञापकत्वरूपं निमित्तत्वं तु नास्माकमप्यसंमतम्। किन्तु व्यञ्जनायाः स्वीकृतेरभावे तन्न सम्भवति। शब्दस्यार्थनिमित्तत्वं हि व्यापारसापेक्षमेव नियतम्। यथा वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थयोरभिधा-लक्षणे व्यापारौ तथेहापि कोऽपि व्यापारोऽवश्यं स्वीकरणीयः। अन्यथा शब्दस्य निमित्तत्वानिश्चयेन "नैमित्तिको व्यङ्ग्यार्थः" इत्येव मीमांसकाभिमतोऽपि न सिध्यति। यदि व्यापारमन्तरेणापि

शब्दस्य निमित्तत्वं स्यात्तदा त्वभिधा-लक्षणेऽपि कूपे पतेताम्। अतो व्यङ्ग्यप्रतीतिर्न नैमित्तिकीति स्पष्टम्।

अथ चाभिधाप्रतिपाद्यस्यार्थस्याविशेषेण कष्टत्वादीनामपि दोषाणां सर्वत्र दुष्टत्वस्यादुष्टत्वस्य वा समानप्रसङ्गाच्च्युतसंस्कृत्यादिदोषाणां हेयता, अत एव नित्यदोषता, कष्टत्वादिदोषाणाञ्च शृङ्गाराद्यभिव्यक्तिप्रतिकूलतया केवलं शृङ्गारादावेव हेयता, परं रौद्रादौ व्यङ्ग्येऽनुगुणतयोपादेयता, अत एषामनित्यदोषतापि न स्यात्। परं व्यञ्जनावृत्तिस्वीकारे तु व्यङ्ग्यार्थस्य नानारूपत्वेन रौद्रादौ व्यङ्ग्येऽनुकूलता, शृङ्गारादौ च दुष्टतेति युज्यते व्यवस्था। तदिदमेव काव्यप्रकाशं विवृण्वता विवरणकारेण लिखितं यदसाधुत्वादयो हि सर्वदैव हेया इति नित्यदोषाः। कष्टत्वादयस्तु शृङ्गाराद्यभिव्यक्तिप्रतिकूलतया तत्रैव हेया अपि रौद्रादौ व्यङ्ग्येऽनुगुणतयोपादेया एवेत्यनित्यदोषाः। इत्यञ्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे प्रातिकूल्यानुकूल्याभ्यामेव नित्यानित्यदोषविभागः। स च व्यञ्जनाया असत्वे नोपपन्नः। वाच्य-वाचकभावे हि कष्टत्वादीनामौदासीन्येन सर्वत्रैव दुष्टत्वमदुष्टत्वं वा अन्यतरन्नियतमेव स्यादिति।

अपि चाभिधामात्राङ्गीकारे व्यञ्जनाशक्त्यनङ्गीकारे च पर्यायशब्देषु कस्यचिदेव कुत्रचित् काव्योत्कर्षकमित्यपि व्यवस्थाव्याघातोऽभिधेयार्थस्याविशेषात्। परं दृश्यते चासौ व्यवस्था काव्येषु। यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

उक्तिरियं तपस्यन्तीं पार्वतीं ब्रह्मचारिवेषेण छलयतः शङ्करस्यात्मनिन्दापरा वर्तते। शिवनिन्दायामेवात्र कवेस्ता-

त्यर्थम्। कपालिपदेनैव पात्राशुचि-बीभत्स-कपालधारणेन स्पष्टं दर्शनेऽप्यनौचित्येन तद्धेयता ध्वन्यते। 'कपालिनः' एतत्स्थाने 'पिनाकिनः' इति पाठस्थापने छन्दोभङ्गाभावेऽपि द्वयोरेतयोः पदयोरभिधेयोपस्थापनाऽविशेषेऽपि च न तास्यारस्यमिति सहृदयाः प्रमाणम्।

व्यङ्ग्यस्य न तात्पर्यगम्यत्वम् अथ कतिचनाचार्याः—

तात्पर्यव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
यावत्कार्य-प्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥
(दशरूपकव्याख्यायां धनिकः)

इत्युल्लिख्य तात्पर्यवृत्तेः क्षेत्रं बहुविस्तृतममन्यन्त। अमीषां मतेन तात्पर्यव्यापारोऽसीमो यावत्कार्यप्रसारी चास्ति। यत्र यादृशोऽर्थोऽपेक्ष्यते तत्र तादृशार्थबोधे तात्पर्यव्यापार एव पर्याप्तः। वस्तुतः कोटिनिविष्ट-व्यङ्ग्यार्थबोधोऽपि तात्पर्यवृत्तेः क्षेत्रतो न बहिर्भूतः। अतो न व्यञ्जनाया आवश्यकतेति तेषामाशयः।

परमिह प्रश्नोऽयमुदेति यत्केयं तात्पर्या शक्तिरेषाम्? यदभिहितान्वयवादान्तर्भूतैवैषामेषा शक्तिस्तर्हि तस्यास्तु क्षेत्रं बहुसङ्कुचितं वर्तते। सा तु केवलं पदार्थसंसर्गबोधं कार्यमित्येव विरमति। न ततोऽधिकं किमपि कर्तुं सा समर्था। यदि च यावत्कार्यप्रसारिणी काचन अन्यैव तात्पर्या वृत्तिस्तैः स्वीक्रियते तर्हि केवलं व्यञ्जनाया नामान्तरमेवेदम्, न पुनः पारमार्थिको भेदः कोऽपि। अतो नैवं कथयितुं शक्यते यद्धनिकादय आचार्या व्यञ्जनां न स्वीकुर्वन्तीति। इमे हि नामान्तरेण तां मन्यन्ते।

अभिहितान्वयवादे व्यङ्ग्यस्य अभिधेयतायाः खण्डनम् अथ पुनरिमां तत्पर्यां वृत्तिं मन्यमाना अभिहितान्वयवादिन आचार्य-कुमारिलभट्टा एतां वृत्तिं स्थापयितुं युक्तिं प्रदर्शयन्ति यदभिधया वृत्त्या तु पदार्थमात्रबोधो जायते, न वाक्यार्थबोधः। यतोऽभिधा पृथक्पृथग्भूतस्यैकैकस्य पदस्य केवलमर्थं बोधयित्वा विरमति। क्षीणशक्तिश्च सा पुनः सर्वेषां पदानां परस्परसम्बन्धने, अर्थादन्वये सर्वथा असमर्था। तेषामन्वयार्थं तात्पर्या शक्तिरपि स्वीकरणीया। तत् (वाक्यार्थः) परः प्रधानतया प्रतिपाद्यो येषां तानि तत्पराणि पदानि, तेषां भावस्तात्पर्यम्, तद्रूपा शक्तिस्तात्पर्या शक्तिः। अस्यां शक्तौ वृत्तौ वा आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशात् पदानां परस्परं समन्वयो भवति। इयमेवेदृशी वृत्तिरस्ति या भिन्नभिन्नपदानि कर्तृत्वकर्मत्वादिरूपेणान्वितानि कृत्वा अर्थैकसूत्रे निबध्य तेषामर्थं तात्पर्याख्यं प्रकटयतीति।

परन्तु कथं वराकीयं वृत्तिर्व्यङ्ग्यार्थं बोधयितुं सक्षमा? यतो ये खलु वृत्तिमिमां स्वीकुर्वाणा अभिहितान्वयवादिनः सन्ति ते त्वभिधां वृत्तिं तु वाक्यार्थबोधनायाप्यशक्तां स्वीकुर्वते, तदर्थञ्च ते इमां तात्पर्यां वृत्तिं स्थापयन्ति। तर्हि वाक्यादपि दूरमतिनो-ऽतिविषयभूतस्य व्यङ्ग्यार्थस्य बोधनाय कथमसावभिधा सक्षमा कथञ्चेयमिति त एव विचारयन्तु कुमारिलाः।

अन्विताभिधानवादे व्यङ्ग्यस्य अभिधेयतायाः खण्डनम्

अभिहितान्वयवादानुसारं पूर्वं पदैरन्विताः पदार्था उपतिष्ठन्ते, ततस्तात्पर्यवृत्त्या तेषां परस्परं सम्बन्धे जाते वाक्यार्थबोधो जायते। परन्तु प्रभाकरमिश्राणामन्विताभिधानानुसारं पदैरन्विता

एव पदार्था उपस्थिता भवन्ति, न तदर्थं तात्पर्या वृत्तिरावश्यकी, अभिधयैव सर्वं कार्यं सम्पद्यते—इति । इमे कथयन्ति यत् पदेर्थ-प्रतीतिः शक्तिग्रहापरनामधेयेन सङ्केतग्रहेणैव भवति । सङ्केत ग्रहस्य चानेके सन्ति उपायाः । यथा—

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान–कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
> वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

एषु सर्वप्रधान उपायो व्यवहारो विद्यते । यथा कश्चन गृह-जनो भृत्यं गामानेतुमादिशति गामानयेति । समीपस्थितो बालको गृहजनस्य तस्य 'गाम् आनय' इति पदं शृणोति, भृत्यञ्च सास्नादिमन्तं गवादिरूपं पिण्डं समानयन्त पश्यति । एवं रीत्या प्रारम्भे 'गामानय' इत्यनेनाखण्डवाक्येन बालकः सास्नादिमत्पि-ण्डस्यानयनरूपं सपिण्डितमर्थं गृह्णाति । तदनन्तरं परस्मिन् वाक्ये गृहजनोऽन्यं भृत्यं गां नेतुं, हयञ्चानेतुमादिशति । बालकश्च तत्सर्वं नयनानयनक्रियादिकम्पश्यति । एवं स पृथक् पृथक् पदा-नामर्थमवगच्छति । स्वत एव च तस्य बालस्य अन्वितबुद्धि-रुत्पद्यते । न तदर्थं तात्पर्याया: शक्तेरावश्यकता । यत उक्तरीत्या शक्तिग्रहो न केवलं पदार्थे—एवापित्वन्विते पदार्थे भवति । व्यवहारस्त्वन्वितपदार्थस्यैव सम्भवः, न पुनः केवलपदार्थस्य । 'अतः प्रभाकरमिश्रैरन्विते' एव अर्थे शक्तिः स्वीक्रियते—इति ।

यद्यप्यनया युक्त्याऽत्रान्विताभिधानवादिनां मते वाक्यार्थार्थं न तात्पर्यवृत्तेरावश्यकता, अभिधावृत्त्यैव तेषां सर्वकार्यं प्रचाल्यते, तथापि तेषामपि नये सामान्येन (साधारणधर्मेण) युक्तो विशेष-रूप एव पदार्थः सङ्केतविषयः, न पुनरतिविशेषभूतः । एवं यदा येषां नयेऽतिविशेषभूत एव वाक्यार्थान्तर्गतः पदार्थोऽसङ्केति-तत्वादवाच्य एव तदा तेषामन्विताभिधानवादिनां मते गामानये-

त्यादौ गवानयनादिविशेषोऽर्थोऽप्यसङ्केतितत्वादवाच्यः। तत्र का कथा व्यङ्ग्यार्थबोधस्य ? एवमेव'भ्रम धार्मिक ! विश्वस्तः।' इत्यादौ विध्यात्मकतया स्पष्ट दृश्यमाने वाक्ये निषेधात्मकतया व्यङ्ग्यवार्त्ता कथं वाच्या भविष्यति ? अतोऽन्विताभिधानमतेऽपिव्यङ्ग्यार्थो न वाच्यः। तदर्थं व्यञ्जनावृत्तेरावश्यकता अस्त्येव।

व्यङ्ग्यस्य न लक्षणागम्यत्वम् अथ लक्षणावादिनो वदन्ति यद् 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ यद्यपि गङ्गादिशब्दस्य तटादौ एव लक्षणा तथापि गङ्गादिशब्दस्य शैत्यपावनत्वाद्यर्थेऽपि पुनर्लक्षणैव भवतु। एवं लक्षणयैव व्यङ्ग्यार्थबोधे जाते कृतं व्यञ्जनाश्रयेणेति। अत्रायं समाधानप्रकारो यन्न हेतुमन्तरेण क्वापि लक्षणावतरणम्। निर्हेतुकप्रवृत्तौ तु सर्वथा व्यवस्थाव्याघातः स्यात्। हेतुश्च मुख्यार्थबाधादित्रयम्। तच्च नास्तीह पुनर्लक्षणायाम्। यथा गङ्गाशब्दः पानीयप्रवाहे सबाधस्तटं लक्षयति तद्वद्यदि तटेऽपि सबाधो भवेत्तदा शैत्यपावनत्वादिकं प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटस्यात्र मुख्यार्थत्वं, नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दप्रतिपाद्यस्य तटस्य शैत्यपावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सह साक्षात्सम्बन्धः फलस्य प्रवाहसमवेतत्वात्, नापि प्रयोजनस्य लक्ष्यत्वे किञ्चित् प्रयोजनान्तरं वर्त्तते। न चापि गङ्गाशब्दः स्खलद्गतिसामर्थ्यो विद्यते। अर्थान्नायं गङ्गाशब्दो मुख्यार्थबाधादिकं विना तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुं समर्थः इति। अतो न व्यङ्ग्यार्थस्य लक्षणीयत्वे लक्षणावादिनां सैषा वाचोयुक्तिः समुचिता।

अथ पुनर्लक्षणावादिनोऽन्यां वाचोयुक्तिमुपस्थापयन्तः कथयन्ति यत् प्रयोजनस्यापि लक्ष्यत्वे प्रयोजनान्तरं दृश्यत एव। तथाहि तीरनिष्ठ—शैत्यपावनत्वे लक्ष्ये घोषनिष्ठं पावनत्वादिव्यङ्ग्यमिति किं प्रयोजनं व्यञ्जनया ? किन्त्वेवं सति तु मूलक्षय-

विधायिनी अनवस्थितिरेव भविष्यति । यदि तीरनिष्ठशैत्यपावनत्वादिरूपस्य प्रयोजनस्य लक्षणीयत्वे घोषगतशैत्यपावनत्वादिप्रयोजनान्तरं कल्प्येत तर्हि प्रयोजनपरम्परायां लक्षणास्वीकारे प्रयोजनान्वेषणस्याविरामात् प्रकृतार्थस्य शैत्यपावनत्वादेस्तटादेश्चाप्रतीतिकारी अनवस्थापातः सुनिश्चितः । अतः सैषा युक्तिरपि तेषां न विद्वत्सम्मतेति ।

अथ पुनः सञ्चितसाहसा व्यञ्जनाविरोधिनो लक्षणावादिनो युक्तिमन्यां प्रदर्शयन्तो वदन्ति यन्मा भवतु तावद् 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ शीतत्वपावनत्वप्रयोजने लक्षणा । 'शीतत्वपावनत्वरूपधर्मसहितं तटम्' इति प्रयोजन–विशिष्ट एव तटे लक्षणा भवेदिति लक्षणयैव व्यङ्ग्यार्थबोधे जाते न किमपि प्रयोजनं व्यञ्जनयेति ।

परमेषापि युक्तिरेषां न समुचिता, यतो यथा प्रत्यक्षादेर्ज्ञानस्य विषयाद्घटादेः प्रकटता संवित्तिर्वा फलं भिन्नं भवति तथा 'गङ्गायां घोषः' इति वाक्यजन्यशाब्दज्ञानविषयाद् 'गङ्गासम्बन्धितटाधिकरणको घोषः' इत्यतः शैत्यपावनत्वादि-प्रतीतिरूपं फलं भिन्नमस्ति । यद्धि ज्ञानस्य फलं न स विषयो भवितुमर्हति । नैव विषयः फलञ्च यौगपद्येन भवतः । विषयः कारणत्वेन पूर्वं भवति फलञ्च कार्यतया पश्चाद्भवति । इमे हि कारणकार्ये कविकल्पनालोकातिरिक्ते न कुत्रापि श्रूयेते । अतो यथा विषयफलयोः सुतरां भेदस्तथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र लक्ष्यप्रयोजनयोरपि नितरां भेदः ।

अत्रायं सारो यत् सर्वं एव दार्शनिका ज्ञानस्य विषयं फलञ्च भिन्नं भिन्नमेव मन्यन्ते । तत्र नैयायिकानां नये 'अयं घटः' अस्य ज्ञानस्य विषयो घटो भवति, तस्माच्चात्मनि 'अहं घटं जानामि'

अथवा 'घटज्ञानवानहम्' इत्येवं रूपं ज्ञानमुद्भवति। इदमेव ज्ञानं ते अनुव्यवसायं वदन्ति। अयमनुव्यवसायः 'अयं घटः' अस्य ज्ञानस्य फलमस्ति। अतो नैयायिकानां मते ज्ञानस्य विषयो घटः, ज्ञानस्य फलमनुव्यवसायः—इति द्वयमपि भिन्नं भिन्नमेव विद्यते। इत्थमेव मीमांसकानां मतेऽपि 'अयं घटः' अस्य ज्ञानस्य विषयस्तु घटोऽस्ति, तस्य ज्ञानस्य फलञ्च ज्ञातता-नामकधर्मोऽस्ति। अतोऽमीषां मतेऽपि ज्ञानस्य विषयो घटः, ज्ञानस्य फलं ज्ञातता चेत्युभयस्यापि ग्रहणं भिन्नत्वहेतोर्न यौगपद्येन भवितुं शक्नोति। अत एव 'गङ्गायां घोषः' अत्रापि लक्षणाजन्यज्ञानस्य विषयस्तटं, तस्य फलञ्च शैत्यपावनत्वादिकं भिन्नं भिन्नमेव स्वीकरिष्यते। नैव चैतयोर्बोधः समकालं भवतीति कथयितुं शक्यते। अतो विशिष्टलक्षणावादिनामप्येषां युक्तिः सारहीनैव। तस्मादेव चोक्तं मम्मटेन "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्" इति।

अथ भूयो लक्षणावादिनोऽपरां युक्तिमुपस्थापयन्तः ससाहसं वदन्ति,व्यङ्ग्येषु नानात्वं शब्दार्थयोर्नानात्वं प्रकरणादिसापेक्षत्वम्-इत्यादयो ये धर्मा दृश्यन्ते ते तु लक्षणीयेऽप्यर्थे दृश्यन्त एव। यथा 'रामोऽस्मि सर्वं सहे।' रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' "रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्।" इत्यादावेकस्यैव रामपदस्य लक्षणीयेऽप्यर्थे नानात्वविशेषव्यपदेशहेतुत्वप्रकरणसापेक्षत्वादयस्ते ते धर्माः सर्वेषां दृष्टिगोचरा भवन्त्येव। अतो नास्त्यावश्यकता अभिनवव्यञ्जनाव्यापारस्वीकारस्य। व्यङ्ग्ये लक्ष्ये चोभयत्रापि लाक्षणिकेनैव व्यापारेण भवितव्यम्। किन्तु लक्षणावादिनामियमपि युक्तिर्वातरोगिप्रलपितैरेव केवलम्। यतो लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽप्यनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव, मुख्यार्थेनानियतसम्बन्धस्य कदापि लक्षयितुम-

शक्यत्वात्। व्यङ्ग्यार्थस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः, सम्बद्धसम्बन्धश्च तत्र तत्र द्योत्यते। तथा च यदा सङ्केतग्रहणापेक्षा अभिधा तदा मुख्यार्थबाधादित्रयतन्त्रविशेषसापेक्षा लक्षणा। एवं यथा मुख्यार्थबाधादित्रयसापेक्षत्वरूपवाचकधर्माभावादभिधातो लक्षणा भिद्यते तथा मुख्यार्थबाधादित्रयाभावाल्लक्षणातो व्यञ्जनाऽपि भिन्न एव। अतः कयापि युक्त्या न व्यङ्ग्योऽर्थो लक्षणागम्यो वक्तुं शक्यते।

वेदान्तिनो मतखण्डनम् अथाद्वैतब्रह्मवादिनो वेदान्तिनो यथाऽखण्डवाक्यस्य वाक्यार्थे शक्तिस्तथा व्यङ्ग्येऽपि वाक्यरूपं वाक्यस्य शक्तिरिति कथयन्तो व्यञ्जनां नाङ्गीकुर्वन्ति। वेदान्तमते हि क्रियाकारकभावो धर्म-धर्मिभावं विना न भवितुमर्हति। धर्मधर्मिभावश्च जगतो मिथ्यात्वेन ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वाच्च न सम्भवति। जगतो मिथ्याभावे च वाक्येष्वयं वाच्यार्थः, अयं लक्ष्यार्थः, अयं व्यङ्ग्यार्थः— ईदृशो विभागो न कर्तुं शक्यते। अपितु समस्तेनाखण्डवाक्येन वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यादयो येऽप्यर्थाः प्रतीयन्ते ते सर्वेऽखण्डरूपे—एवोपस्थिता भवन्ति। अतो नास्ति व्यञ्जनाया आवश्यकता—इति तेषामाशयः। परन्तु वेदान्तिनामनेन मार्गेण त्वभिधालक्षणाद्याः सर्वा एव वृत्तयः प्रलीयन्ते, न केवलं व्यञ्जनैव। एतदतिरिक्तं वेदान्तिनो जनाः "व्यवहारे भट्टनयः" एतत्सुप्रसिद्धस्वसिद्धान्तानुसारं सांसारिकदशायां पदपदार्थकल्पनां स्वीकुर्वन्त्येव। अतोऽमीषामपि मते "भ्रम धार्मिक०" इत्यादौ 'मा गम' इत्यादिरूपो निषेधो व्यङ्ग्य एव।

अनुमानतो व्यङ्ग्यार्थसिद्धिखण्डनम् सोऽयं सर्वविधो विचारोऽभिधालक्षणादिवृत्तीनां दृष्ट्या जातः। निर्णयसागर-

क्रियत यद् व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरभिधा-लक्षणा-तात्पर्याभिधाभि-वृत्तिभिर्न भवति। तदर्थं व्यञ्जनावृत्तिस्वीकारोऽपेक्षितोऽस्ति। परन्तु ध्वनिकारोत्तरकालिकाः कतिचन आचार्या व्यङ्ग्यार्थं शब्दशक्तितो बहिर्भूतमुद्घोष्य अनुमानबोध्यमिदं निश्चिन्वन्ति। एषु नैयायिको महिमभट्टोऽनुमाने एव व्यङ्ग्यार्थस्यान्तर्भावं शङ्कमानो व्यक्तिविवेकग्रन्थारम्भे प्रतिज्ञां करोति—

> अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
> व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥इति।

तस्येदमस्ति मतिविलसितं यद्—

> भ्रम धार्मिक! विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
> गोदानदी-कच्छ-कुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इति।

उक्तिरियं देवपूजार्थं कुसुमसञ्चयाय स्वसङ्केतस्थानभूते गोदानदीतटकुञ्जस्थले गच्छन्तमात्मनोऽभिसारविघ्नविधायिनं कञ्चन धार्मिकं भीषयितुं कस्याश्चन पुंश्चल्या अस्ति। हे धार्मिक! साम्प्रतं त्वं विश्वस्तः सन् यथेच्छं विचर। यद्भयात्त्वया भ्रमणं त्यक्तमासीत् स श्वा अद्य गोदानदीकच्छकुञ्जवास्तव्येन मदमत्तसिंहेन मारितः इति। अत्र यो वाच्येन भीरुस्वभावस्य गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणेन निकुञ्जे सिंहोपलब्ध्या भ्रमणनिषेधो व्यङ्ग्यः सः अनुमेय एव, न पुनर्व्यञ्जनाप्रतिपाद्यः। भ्रमण-निषेधस्य अनुमानप्रकार एषः— धार्मिकः सिंहवद्गोदानदीतटा-भ्रमणवान् (प्रतिज्ञा), भीरुभ्रमणवत्त्वात् (हेतुः), अन्यभीरु-पुरुषवत् (उदाहरणम्), यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणानुप-लब्धिपूर्वकम् (व्याप्तिः), तथा चायम् (उपनयः) तस्माद् धार्मिकस्तथा (निगमनम्), इति।

परन्तु महिमभट्टस्य मतिविलसितमिदं नितान्तमसङ्गतं बालचेष्टामात्रञ्च। यतोऽनुमाने व्याप्तिरावश्यकी; सद्धेतवश्चावश्यकाः। किन्तूपरि निर्दिष्टेऽनुमानप्रकारेऽसद्धेतुत्वाद्धेत्वाभासा आपतन्ति, तेन च व्याप्तिभङ्गः। यदि भीरोर्भययुक्ते स्थले न कदापि केनापि कारणेन गमनं भवेत्तदा भवेद् व्याप्तिः ऐकान्तिकता वा। परं भीरुपुरुषोऽपि गुरोः प्रभोर्वा आज्ञया अनुरागेण वाऽन्येन वैवम्भूतेन कारणेन भययुक्ते स्थानेऽपि गच्छतीत्यनैकान्तिकताहेतोः, अथ कुक्कुरस्य शास्त्रनिषिद्धस्पर्शतया, पापाशङ्कया वा तत्स्पर्शतो बिभ्यदपि पुरुषो वीरावेशत्वे सिंहादपि न बिभेतीति विरुद्धताऽपि हेतोः, अथ गोदानदीतटे सिंहसद्भावो न प्रत्यक्षनिश्चितः, अपि तु पुंश्चल्याः कथनात्, कुसुमसञ्चयार्थं तत्र प्रतिदिनं समागच्छता धार्मिकेण तदीयाभिसन्धिं बुद्ध्वा अविश्वस्य च तत्र गतमेव स्यादिति असिद्धताऽपि हेतोः। एवं यत्र अनुमाने इयन्तो हेत्वाभासा आपतेयुः किं तदपि अनुमानमव्यभिचारित्वेन कथयितुं योग्यम्?

एवमेव "निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं" इत्यादौ दूत्यास्तत्कामुकोपभोगानुमानं व्यभिचारि। चन्दनच्यवनादीनि तु स्नानादिनापि सम्पद्यन्त एव। यदि चन्दनच्यवनादिनैव परकामुकोपभोगत्वमनुमीयते तर्हि वापीस्नायिकाभिः सर्वाभिरपि स्त्रीभिः कुलटाभिर्भवितव्यम्। किन्तु नैवमेतत् कथयितुं शक्यते। अतः कथमत्र अनुमितिः स्यात्? व्यञ्जनावादिनस्त्वत्र "न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्" इति चतुर्थचरणगतेनाधमपदेनैव तदीय-व्यभिचारं व्यञ्जयन्ति। परमनुमानवादिनो महिमभट्टस्य पार्श्वे त्वधमत्वमेव तस्य प्रमाणानामप्रतिपन्नत्वादसिद्धमेव।

अपि च तर्जन्युत्क्षेपादिदर्शनेन हस्त-नेत्रसङ्कोच-विशेष-चेष्टादिभिश्च तत्र तत्र व्यङ्ग्यार्थः प्रतीयते। तथा च 'एतावन्मात्र-

स्तनिका', इति वक्तव्ये सङ्कुचिताङ्गुलेर्हस्तस्य विशेषचेष्टा एव प्रयुज्यते तत्प्रतीतिश्च तथैव भवति। कथमेवंविधस्थलेऽनुमानस्यावसरः? अतो व्यङ्ग्यस्य अनुमानान्तर्भावोऽपि हास्यास्पद एव। तस्माद् व्यङ्ग्यस्यार्थस्य अनन्यवेद्यत्वेन तदर्थं व्यञ्जनावृत्तिस्वीकृतिर्हठात् शिरसि समापतति सर्वेषामिति नास्ति संशयः।

रस-महत्त्वम्

आस्वादनार्थक-रस (चु०प०सं०) धातोर्भावे करणे वा घञि कृते रस्यते=आस्वाद्यतेऽसौ, अनेन वेति रसः सिध्यति। तत्र भावार्थकप्रत्यये आस्वादनमेव रसः, करणार्थकप्रत्यये स्वास्वादनाभिव्यञ्जकोऽन्तःकरणस्य व्यापारो वृत्तिविशेषोऽपि रसो भवति।

काव्यं दृश्यं श्रव्यं वा किमपि भवेत्तत्र रस एवानन्दप्रदः सर्वोच्चश्च स्वीकृतः। यतो ध्वनिरेव काव्यात्माऽमन्यत, अस्यैव काव्यानां प्रधानं स्थानम्, अथ रसश्च ध्वन्यते, अतोऽयमपि ध्वनेरेव स्थानं लभते। ध्वनिकारोऽपि रसमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिषु प्रतिपादितवान्। रसेन सह भाव-भावाभास-रसाभास-भावोदयादीनामष्टविधानां रसोक्तिप्रकाराणामपि ग्रहणं जायते।

उक्तञ्च ध्वनिसिद्धान्त — प्रवर्त्तकेनानन्दवर्द्धनाचार्येण ध्वन्यालोके —

"रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ इति ।

यथा हि पानाशनादिवस्तूनां रसस्यास्वादनं भवति तथैव काव्यरसस्यापि । अन्तरं केवलमेतावन्मात्रं यल्लौकिकवस्तूनामास्वादनं जिह्वया जायते काव्यरसस्य च सहृदयानां मनसा भवति । अयं काव्यरसोऽनिर्वचनीयोऽलौकिको, ब्रह्मानन्दसहोदरश्च भवति ।

उपनिषत्कारास्तु 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तैत्ति० उ०) इत्युल्लिख्य परमात्मानमपि रसमयं निर्दिशन्ति । यद्यपि दार्शनिका इदमौपनिषत्कं श्रुतिवचः परमेश्वरपरकमेव व्यवहरन्ति किन्तु परमेश्वरस्य काव्यस्य च द्वयोरप्येतयोरानन्दस्वरूपत्वान्न किमपि पार्थक्यम् । यथा परमेश्वरस्य स्थूलसत्ताया अभावे वस्तु जडं निरर्थकञ्च तथैव रसस्थितेरभावे शब्दार्थरूपकाव्यमपि निष्प्राणं व्यर्थञ्च भवति । परमेश्वरः प्राणिसंसारस्य आत्मा वर्त्तते, रसश्च काव्यसंसारस्य जीवनं विद्यते । आराधका यथा ब्रह्मानन्दमनुभवन्ति, सहृदयास्तथा काव्यानन्दमास्वादयन्ति, इमे उभये एव तत्र तल्लीना जायन्ते । लोकोत्तरधर्मवत्त्वाद्यथा परमात्मा विरुद्धानपि धर्मान् धारयति, तथा काव्येऽप्यलौकिकक्रियाकारणाद्रसा विरुद्धानपि धर्मान् आत्मसात् कुर्वन्ति । अतः परमात्मनः काव्यस्य च द्वयोरप्येनयोः समानजातित्वादैक्यमेव, दृश्यमानभेदस्तु व्यावहारिक एव । श्रुतिरप्यस्मादेव कारणाद् 'रसो वै सः'' इत्युक्त्वा तदेव सङ्केतयति ।

अथ उपनिषत्समयानन्तरं भरतमुनेरागमनं भवति। असौ मुनिरपि किमपि काव्यं रसहीन नामन्यत। अलिख्यत तेन — 'नहि रसादृते कश्चन अर्थः प्रवर्त्तते' इति। एतदुत्तरभावो भगवान् व्यासोऽपि अग्निपुराणे "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्" इत्युल्लिख्य रसमेव काव्यजीवनं स्वीचकार।

अथ पुनः ख्रिष्ट्रीयं ८५० तमवर्षमुपकण्ठं भुवनमुपागतो ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्योऽपि नीरसं काव्यं कवयितुः प्रतिभादारिद्र्यमेव समुद्घोष्य रसस्य विपुलं महत्त्वं प्रदर्शयाम्बभूव। स्पष्टमुट्टङ्कितममुना ध्वन्यालोके :—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्य तैः सदैवाप्रमादिभिः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥ इति।

काव्यजीवनस्यास्येदृशस्यालौकिकरसस्यैवायं प्रभूतप्रभावो यत् दृश्यश्रव्येपूभयविधेष्वपि काव्येष्वानन्दोऽप्यलौकिक एवानुभूयते। अत एव "वेतनवृद्धिस्ते जाता, पदोन्नतिस्ते समभवत्, अरातयो भवतो यमालयं प्रापिताः, पत्न्यास्ते अङ्के सद्योजातो बालकोऽशून्यं कुरुते" इत्याद्या लौकिकहर्षप्रसङ्गा न काव्यानन्दस्य विषयाः। लोके तु यैः कष्टकारणैः कष्टमुत्पद्यते, तैरेव काव्यसंसारे सुखमुपजायते। काव्येषु वर्णिताः रामवनगमन-सीताहरण-हरिश्चन्द्रतनयमरणप्रभृतयः प्रसङ्गा अत्र प्रमाणम्। तथा सहृदयहृदयान्यपि प्रमाणभूतानि। अथवा किमेतेन ? प्रत्यक्षमनुभूयते, यथा शृङ्गारे रसः परमाह्लादजनकस्तथा करुणादावपि परमानन्दप्रदायकः। नैव करुणादिरसानां शोकप्रसङ्गाद्विरसता कदापि दृष्टश्रुतचरा। यदि करुण-बीभत्स-भयानकादिरसप्रधानेष्वभि-

नयादिषु वैरस्यं दुःखप्रदत्वं वा अनविष्यत्तर्हि कः खलु प्रमादी उन्मत्तो वा नित्यं विपुलानि रूप्यकाणि व्ययीकृत्य करुण-भयानक-रसादिप्रधानानि नाटकादीनि हम्न्यामात्मसात्कर्तु महमहमिकया तत्र अगमिष्यत् । सहृदया अभिनयभवने करुणप्रधानानि नाटकानि विलोक्य तत्र काममश्रुविप्रुषो निपात्यापि प्रकाममानन्दमनुभवन्ति । स्मर्तव्यम्, अश्रुपातो न केवलं दुःखादेव भवति किन्तु हर्षादपि अश्रूणि समायान्ति । काव्य-नाटकादीनां पठनेन, श्रवणेन, दर्शनेन वा यद्रोदनं जायते तत्तु चित्तस्य द्रवीभावः, द्रुतत्वादेव च अश्रूणि समायान्ति । हर्षातिरेकादश्रुपातो भवति, रोमोद्गमो भवति, वेपथुरपि च जायते । लोके शोकादिहेतुभ्यः कामं दुःखं भवेत्, परमलौकिके काव्यलोके तु तेभ्यः सुखमेवोपजायते । यथा सुरते स्तनमर्दन-दन्तक्षतादिभ्योऽपि विलक्षणं सुखमेव भवति तथा काव्यानुशीलने सर्वेभ्यो विभावादिभ्योऽप्यपूर्वं सुखमेव समुद्भवति । अतो विलक्षणो हि खलु काव्यरसप्रभावः, अनन्तमस्य माहात्म्यम्, विशिष्टमस्य महत्त्वम्, किमपि चालौकिकं वैशिष्ट्यं रसस्य काव्यात्मभूतस्य ब्रह्मानन्दसहोदरस्य ।



विभिन्ना रसनिष्पत्तिप्रक्रियाः

रसः खल्वात्मस्थानीयः । पुरुषस्य यद्यात्मा न भवेत्—जीवनं न भवेत्तर्हि तस्य गुणा असम्भवा एव, अलङ्कारादिशोभाऽपि निष्प्रयोजना एव । एवमेव काव्यस्यापि । अतः काव्यजीव-

नाय तदात्मभूतो रसः परमावश्यकः इति सार्वजनीनम् । 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्त्या रसे रस-भाव-रसाभास-भावाभास-भावशान्त्यादयोऽप्यन्तर्भवन्ति । रसशब्देन च शृङ्गारादयोऽष्टौ नव वा सशान्ता दश वा वत्सलान्ता रसा गृहीता भवन्ति। काव्य-रसोऽयं न लौकिकः, अन्तःकरणवर्तित्वात् स्वसंवेद्यत्वाच्च ।

अथ सहृदय-हृदयैरास्वाद्यमानः 'को नाम रसः' इति प्रश्ने "विभावानुभावव्यभिचारि—संयोगाद् रसनिष्पत्तिः"—इति मुनिर्भरतः प्राह । मम्मटेनापि तदेवोरीकृतम् । विश्वनाथोऽप्येवं वर्णयाञ्चकार—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ॥

तत्र विभावयन्ति रत्यादिभावान्=आस्वादयोग्यतां नयन्तीति विभावाः। अनुभावयन्ति रत्यादीन् स्थायिभावान्=अनुभव—विषयतां नयन्तीत्यनुभावाः । अथवा अनु=पश्चात्, भावः=उत्पत्तिर्येषां ते अनुभावाः । ये च रत्यादिस्थायिनो भावान् कार्ये सञ्चारयन्ति=मुहुर्मुहुरभिव्यञ्जयन्ति ते व्यभि-चारिभावाः, सञ्चारिभावाः वा कथ्यन्ते । एषां त्रयाणां संयोगा-द्रसनिष्पत्तिर्भवतीति भरतमुनेः फलितोऽर्थः । भरतमुनेरेव चेदं सूत्रं प्रमाणीकृत्य लोल्लट-मम्मट विश्वनाथ-जगन्नाथ-प्रभृतय आचार्याः स्व-स्वरीत्या रसनिष्पत्तिप्रकारं प्रकाशयामासुः ।

प्रारम्भेऽत्रेहापि भाव-विभावानुभावादीनां स्वरूपं समवग-त्यापि तदिदं स्पष्टं नाभूद्यत् क्वास्ति सा प्रक्रिया यया रसपरि-पाको जायते, विभावादयस्तत्र च किमाचरन्ति । एतदतिरिक्तं रत्यादयः स्थायिनो भावा दुष्यन्तशकुन्तलादिष्वनुकार्येषूद्भवन्ति, विभावादिभिश्च रसरूपतामुपयान्ति, अतस्तैरेवानुकार्यैः रसानन्दो-

अनुभवनीयः । पुनः कथं सामाजिकाः काव्यानन्दमनुभवन्ति ? न सामाजिकैः सह सीता-शकुन्तलादीनां कश्चन सम्बन्धः । भरतसूत्रेणापि नात्र किमपि स्पष्टं भवति । अतो भरतसूत्रस्य संयोग-निष्पत्तिशब्दयोर्विभिन्नमर्थं स्वीकृत्यालोचका आचार्याः स्वकीयान् विभिन्नान् सम्प्रदायानतानिषुः ।

एषु साहित्यसम्प्रदायप्रवर्त्तकेषु मीमांसाचार्यो भट्टलोल्लटः, न्यायाचार्यः श्रीशङ्कुकः, साङ्ख्याचार्यो भट्टनायकः, साहित्याचार्यः श्रीमदभिनवगुप्तपादश्चेमे प्राधान्यं कलयन्ति । भट्टमम्मटेन काव्यप्रकाशे चतुर्णामेषामेव मतानि समुद्धतानि ।

भट्टलोल्लटस्य आरोपवादः

तत्र प्रथमं भट्टलोल्लटस्यायमस्त्याशयो यद्रत्यादिस्थायिभावा विभावैर्जनिताः, अनुभावैः प्रतीतियोग्याः कृताः, व्यभिचारिभिश्च समुपचिता दुष्यन्त-रामादिषु संस्थिता अपि नटनैपुण्येन सहृदयानां रसपदवीमारोहन्ति । अर्थाद् ये रत्यादिभावा रसरूपतां प्रयान्ति ते किं निष्ठाः कथञ्च तैः सामाजिका आनन्दमनुभवन्ति ? इति प्रश्ने जाते भट्टलोल्लटः कथयति वयं येषां दुष्यन्तादीनामभिनयं पश्यामस्तेषामेव रत्यादिभावा भवन्ति, न नटस्य । यतः शकुन्तलादीना प्रणयो नैव नटेन सह भवितुमर्हति । सामाजिकाश्च रङ्गशालायां नटस्याभिनयकौशलं विलोक्य तदुपरि दुष्यन्तादीनामारोपं कुर्वन्ति, तेन ते नटा असत्या अपि सत्या दुष्यन्ताद्याः सञ्जायन्ते । अत एव च सामाजिकानां मनसि आनन्द समुद्भवति ।

अयं भावः, शकुन्तलादिनाटकेषु यः प्रणयाभिनयः प्रदर्श्यते नटपात्रैः, स प्रणयः प्रधानरूपेण तेष्वेवानुकार्येषु दुष्यन्तादिषु तिष्ठति । तेषामनुकार्य-दुष्यन्तादीनामभावेऽपि सामाजिका दुष्यन्ताद्यभिनयं कुर्वतो नटादीन् दृष्ट्वा तेष्वनुकार्य-दुष्यन्तादी-

नामारोपं विधायानन्दमनुभवन्ति। यथा कुत्रचिदसत्यपि सर्पे सर्पतयाऽवलोकिताद् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति, अथ च असत्यपि रजते रजततयाऽवलोकनाच्छुक्तौ तद्ग्रहणबुद्धिरुदेति तथैव शकुन्तलाविषयिणी दुष्यन्तरतिरपि तत्र अविद्यमानाऽप्यनुकर्त्तरि नर्त्तके पात्रे नाट्यनैपुण्येन सत्यभूतेव वर्त्तमाना सामाजिकान् चमत्कुरुते।

एवञ्च विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगात्—उत्पाद्योत्पादक-भावसम्बन्धात्,रसस्य रत्यादिस्थायिभावस्य,निष्पत्तिः—अभिनय-प्रदर्शनचतुरे दुष्यन्ताद्यनुकर्त्तरि नटे समारोप्य साक्षात्कृतिरिति फलितोऽर्थोऽस्ति भरतसूत्रस्य भट्टलोल्लटाभिमतः।

निष्पत्तिशब्दस्य 'उत्पत्तिः' इत्यर्थग्रहणादेव लोल्लटस्यायम् उत्पत्तिवादः कथ्यते। नटे आरोपकारणाच्च 'आरोपवाद'—नाम्नाऽप्ययं वादः प्रसिद्धो वर्त्तते।

श्रीशङ्कुकस्य अनुमितिवादः अथ भट्टलोल्लटस्य मतम-सहमानो नैयायिकः श्रीशङ्कुकः प्राह—नैतद् रुचिरं लोल्लटकथनम् सामाजिकेषु रसनिष्पत्त्यभावे चमत्कारः कथं सम्भवः? न चारोपः सुखनिमित्तम्। न हि चन्दनारोपमात्रेण शैत्यसुगन्धाद्यनुभूतिर्भवति, वस्तुतश्चन्दनमेव तथा करोति। एवमेव सुखमपि नारोपमात्रेण सुखयति, तस्य विद्यमानता आवश्यकी।

सर्वतार्किकशिरोमणिरिमं तर्कमुपस्थापितवान्, यन्नटे समारोप्यमाणाया अपि दुष्यन्तादिरतेः सामाजिकैः सह न कश्चिदपि सम्बन्धः। सम्बन्धाभावाच्च सामाजिकाः कथं तदा-नन्दमनुभवितुं शक्नुयुः। नटे आरोपिताया रतेर्ज्ञानमात्रेण नानन्दो जायते। यदि च ज्ञानमात्रेणैव स स्यात्तर्हि रत्यादिशब्दैरपि जायमानाद्रत्यादिज्ञानात् कथमिव स आनन्दो नोद्भवति।

प्रत्यक्षमनुभवामो, यच्चन्दन-घनसारादिलेपनादेव शान्तिर्भवति, न चन्दनादीनामारोपमात्रेण।

अतोऽनुमाप्यानुमापकसम्बन्धादत्रानुमितिर्भवतीति शङ्कुकः प्राह, न पुनरारोपात्। यतः काव्यश्रवण-दर्शनादिभिर्यज्ज्ञानं जायते तल्लौकिकज्ञानविलक्षणं भवति। 'अयं रामतः सर्वथा अभिन्नः, अस्मादन्यो न कोऽपि रामः'—इति सम्यक्प्रतीत्याः, उत्तरकाले=अभिनयातिरिक्तस्थितौ 'न रामोऽयम्' इति विपरीत-प्रतीतेः सत्त्वात् मिथ्याप्रतीत्याः, 'अयं रामो वा नटो वा' इति कोटिद्वयगाहमानत्वसंशयरूपायाः संशयप्रतीत्याः, 'रामसदृशो-ऽयम्' इतिसादृश्यप्रतीत्याश्च विलक्षणया 'चित्रतुरगन्याय'—प्रतीत्या चतुष्टयविलक्षणैव प्रतीतिर्जायते। यथा चित्राङ्कितस्तुरग-स्तुरगत्वेन व्यवह्रियते, तद्वदत्राप्यभिनेता नटो रामत्वेन, दुष्यन्त-त्वादिना वा व्यवह्रियते। अर्थात्रामप्रकारकपुरोवर्तित्वमात्र-विशिष्टे नटे अनुकर्तरि पक्षभूते तादृशचमत्कारहेतूनां काव्यानां विवक्षितस्यार्थस्य साक्षात्करणाद् विलक्षणया अभिनयशिक्षया पुनः पुनरनुशीलने लब्धनैपुण्यन्याभिनयरूपस्य स्वकार्यस्य प्रकट-नात् हेतोर्नटेन (कर्त्रा) प्राकाश्यं नीतैः कृत्रिमैः रामगतत्वेन नटसम्बन्धरहितैरपि तथा मिथ्यात्वेनानभिमन्यमानैः (इमे विभावादयो न रामसम्बन्धिनः अपितु नटसम्बन्धिनः - इति तत्र नटमाश्रित्य मिथ्यात्वप्रतीतिः) विभावादिशब्दव्यवहार्यैः कारण-कार्य-सहकारिभिर्हेतुभूतैर्गम्यगमकभावरूपात् सम्बन्धात् सामा-जिकैः सहृदयैरनुमीयमानः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादि-भावः-साक्षात् रसनीयत्वेनान्यानुमितिविलक्षणो. (वस्तु, वर्तिष्य-मानोऽपि सामाजिकानां प्रबलानुमितिरूपया वासनया पुनःपुनर-नुमीयमानो) रसो भवति। अन्येषु खलु अनुमीयमान-पदार्थेषु

चमत्कारो न भवति,किन्त्वस्याग्न्येभ्यो विलक्षणतयाऽनुमीयमाना-दपि चमत्कारोदयो जायते। यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् इत्यनुमानं कुर्वतां नोष्णत्वप्रतिः। परमत्र काव्यलोके रसानुमानं विदधतां सामाजिकानां रसप्राप्तिरित्यत्र वैलक्षण्यम्। तेन च कृत्रिमैरपि वस्तुसौन्दर्यबलादकृत्रिमतया गृहीतैर्विभावादिभिः संयोगात्=अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्धाद्रसस्य=तत्तस्थायिभावादे निष्पत्तिः=अनुमितिर्भवतीति।

कथनस्यास्यायं भावः, लोके चतुर्विधमेव ज्ञानं प्रसिद्धम्:— (१) सम्यग्ज्ञानम् (२) मिथ्याज्ञानम् (३) संशयज्ञानम् (४) सादृश्यज्ञानञ्चेति। तत्र सम्यग्ज्ञानं त्रिभिः प्रकारैः प्रदर्श्यते :– 'राम एवायम्' इति प्रथमः प्रकारः। अत्र अयोगव्यवच्छेदकेन एवकारेण रामो नास्तीति ज्ञानं निरस्यते। 'अयमेव रामः' इति द्वितीयः प्रकारः। अत्र हि अन्ययोगव्यवच्छेदकेन एवकारेण एत-स्माद् भिन्नः कश्चिदन्यो रामोऽस्तीति ज्ञानं निवार्यते। अयं रामोऽस्त्येव इति तृतीयः प्रकारः। अत्र हि अत्यन्तायोगव्यव-च्छेदकेन एवकारेण 'रामो नास्त्येवेति' ज्ञानं वार्यते। उक्तञ्च—

अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥ इति।

अर्थादत्र विशेषणान्वित एवकारो भवति तत्र प्रथमोऽयोग-व्यवच्छेदकः, यत्र विशेष्यान्वितस्तत्र द्वितीयोऽन्ययोगव्यवच्छे-दकः, यत्र पुनः क्रियान्वितः स तत्र तृतीयोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदकः तदिदं प्रथमं सम्यग् ज्ञानम्। अथ द्वितीयं मिथ्याज्ञानं सत् कथ्यते यद् 'रामोऽयम्' इति पूर्वं स्फुरेत् किन्तु पश्चात्साक्षात्दर्शनानन्तरं सति बाधे 'न रामोऽयम्' इति ज्ञानं भवेत्। 'अयं रामो न वा' इति कोटिद्वयावगाहि ज्ञानं तृतीयं संशयज्ञानम्। 'रामसदृशोऽयम्' इत्यादिरूपं सादृश्यज्ञानं चतुर्थं भवति।

किन्तु काव्यलोके रसनिष्पत्त्यर्थं चतुर्विधादस्मात् ज्ञानाद-परमप्येकं ज्ञानं भवति — चित्रतुरगज्ञानम्। चित्रे तुरगाव-लोकनेन यज्ज्ञानं भवति तद्धि चित्रतुरगज्ञानं कथ्यते। अस्यैव ज्ञानस्य बलेनानुकर्त्तरि नटादौ सामाजिका दुष्यन्तादिधियं कुर्वन्ति, ततश्च 'सेयं ममाङ्गेषु०' इत्यादिरमणीयकाव्यानुसन्धानेन शिक्षाभ्यासाभ्यां प्रदर्शितेन नटस्य कौशलेन स्थायिभावानां कारण-कार्य-सहकारिभिर्विभावानुभाव-व्यभिचारि-पदव्यपदेश्यैः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैरनुकर्त्तरि नटे रसनीयत्वेन रत्यादी-नामनुमितिं कुर्वन्ति। अवासन्नपि रत्यादिः सामाजिकानां प्रबलानुमितसारूप्यया वासनया पुनः पुनरनुमीयमानो रसो भवति। अनुमानस्य चायं प्रकारः — रामोऽयं सीताविषयकरतिमान्, आलम्बनोद्दीपनानुभावसञ्चारिभावसम्बन्धित्वादिति।

यथा हि पर्वते प्रबलकुज्झटिकायां धूमाभिमानादसतोऽपि वह्नेरनुमानं भवति, तथैव सुनिपुणाभिनेतरि 'एतदीया एव इमे विभावादयः' इत्यभिमन्यमानैर्हेतुभूतेभ्यो विभावादिभ्यो रत्यादयः स्थायिभावा अस्माभिरनुमीयन्ते। ते च नटे अनुमिता अपि वस्तुसौन्दर्यबलादेव सामाजिकानां हृदि अन्यानुमिति-विलक्षणं चमत्कारमाविर्भावयन्ति। एतदनुसारं रत्यादिस्थायि-भावानामनुमितिरेव रसस्य निष्पत्तिरिति फलितोऽर्थः। अत एव शङ्कुकस्य अनुमितिवादः कथ्यते।

भट्टनायकस्य भुक्तिवादः अथ साङ्ख्यविदो भट्टनायका रसप्रक्रियामनुसरन्तोऽप्यदिपूरा श्रीशङ्कुका यत्कथयन्ति—"यथा कुज्झटिकाकुलिते देशेऽसतोऽपि धूमस्य मिथ्याज्ञानेनैव वह्नेरनु-मानं भवति तथैव नटेन शिक्षाभ्यासादिबलात् सुनिपुणं 'ममैवैते

विभावादयः' इत्येवं प्रकाशितैस्तत्रासद्भिरपि लिङ्गभूतैस्तद्व्याप्तिमतो रत्यादिस्थायिभावस्य नटेऽनुमानं जायते। स चानुमीयमानः स्थायी भावो वस्तुसौन्दर्यबलादन्यानुमानापेक्षया वैलक्षण्यमुपयातः सामाजिकेषु कमपि चमत्कारातिशयं पुष्णन् रसपदवीमधिगच्छति—इति" तन्न रुचिरम्। यतः प्रत्यक्षानुभववेद्यं वस्तु एव सुखातिशयं पुष्णाति, न हि तस्यानुमानमात्रम्। न च तद्वैलक्षण्ये प्रमाणम्। प्रत्युत प्रत्यक्षमनुभूयते मोदकमश्नन्नेव जनस्तन्माधुर्यादिसुखातिशयमनुभवति, न च तत्सुखं केवलं मोदकानुमानेन—इति।

किञ्च अभिनयोत्तरकाले नटविषये तादृशरत्यनुमानस्य बाधस्य सत्त्वेऽनुमितिविरहोऽप्यास्वादोदयाद् 'रसं साक्षात् करोमि' इत्याकारकस्यानुव्यवसायस्यानुपपत्तेः—इति। न हि तादृशानुमानबोध्यस्य रत्यादेरास्वादयोग्यता। अतोऽकथ्यत भट्टनायकेन यद् भावकत्व-भोजकत्व-व्यापारद्वय-सहकृत-तादृशालौकिकविभावादिभिरलौकिक एव रसः। साधारणीकरणमाहात्म्याद् साधारणतयाऽनुभूयमानो रसोऽयं ब्रह्मानन्दसहोदरतां भजते। तथाहि—

रसस्तावत्ताटस्थ्येन न, अर्थात्तटस्थः प्रकृते नटो रामश्च, एतद्द्वयगतत्वेन न रसः। तद्गतत्वे सामाजिकैः सह विभावादीनां न सम्बन्धः, असम्बन्धित्वेन च न रसः। अथ आत्मगतत्वेनापि न, अर्थात् साक्षात् सामाजिकगतत्वेनापि न। तथात्वे तस्य रामत्वाभावे तद्रत्यादेरप्यभावात्। तेनैतद्विलक्षणतयैवानुमितेरुत्पत्तेर्वा न स रसो विषयीभूतः। अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधादिव्यापारातिरिक्तेन विभावादीनां रत्यादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषसम्बन्धपरिहारेण साधारणीकरणात्मना भावकत्व-

व्यापारेण साधारणीक्रियमाणो रत्यादिस्थायी रजस्तमो-ऽभिभूय सत्त्वस्याविर्भावेन यः प्रकाशः स एवानन्दः, तदात्मिका या संविद्=ज्ञानं तस्य ज्ञेयान्तरसम्पर्कराहित्येन यदवस्थानं तत्तत्त्वेन=तदाकारतया भोजकेन व्यापारेणानुभवविषयी-क्रियते ।

अयं भावः। राम-दुष्यन्तादीनामभिनयादवलोकनकाले वस्तु-त्रयम् — अनुकर्ता नटः, अनुकार्यो नायको रामः, सामाजि-कवर्गश्च । तत्र न नटगतो रसः, न च रामादिनायकगतो रसः। यतो न सीतादय आलम्बनविभावाः सामाजिकानां, सम्बन्ध-विरहात् । विना विभावादिभिश्च रसप्रतीतिविरहः । नापि च सामाजिकगतो रसः । नैव सामाजिका आत्मगतत्वेन रसप्रतीति-मनुभवन्ति । एवं सति स्वात्मनि सीता-शकुन्तलादिविषयकरति-रुदयात् पापाचारेण रसाभासः, औचित्यस्योल्लङ्घनं, करुणा-नुभवश्च । निश्चयमयं रसो नानुमीयते, नोत्पद्यते, न जन्यते, न च व्यञ्जनयैवोपस्थाप्यते सिद्धस्यैव तस्य सम्भवात् । अतः काव्य-नाटकादि-श्रवणावलोकन-काले सर्वप्रथममभिधातः काव्यार्थबोधो-त्तरमेव विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावनाभिधेन व्यापारेण भाव्यमाना = सीता-शकुन्तलादि-व्यक्तिविशेष-सम्बन्धमपहाय सामान्य-नायक-नायिकादिरूपेण साधारणीक्रियमाणः = स्थायी रत्यादिभावः सत्त्वगुणाविर्भूतप्रकाशानन्दमयज्ञानस्य विश्रान्ति-स्वरूपेण (ज्ञेयान्तरसम्पर्कशून्येन) यदवस्थानं तद्रूपेण भोजकत्व-व्यापारेण भुज्यते=साक्षात्कारेण भुज्यते ।

मतस्यास्य एष संक्षेपः, यथा साधारणवाक्यार्थबोधाय अभिधादिवृत्तिरूपः शब्दव्यापारः स्वीक्रियते, तथा काव्य-नाट्ययोः वाक्यार्थबोधानन्तरं रसानुभवाय भावकत्वं भोजकत्व-

वे ति व्यापारद्वयं स्वीक्रियते। तेन हि काव्यस्य-सामान्यतया र्थबोधे सति आद्येन भावकत्वव्यापारेण विभावादिष्वंसीतादि-तत्सम्बन्धिनी रतिश्च तत्तत्सीतात्व-रामत्वांशमपहाय सामान्य-या नायक-नायिकात्वेन रतित्वेन चोपस्थाप्यते, अपरेण च भोजकत्वव्यापारेण साधारणीक्रियमाणैर्विभावादिभिः पोषं नीता सा रतिः काव्यवासनावद्भिः सहृदयैरास्वाद्यते। असत्या पि रतेरास्वादोऽलौकिकत्वादत्र युज्यते—इति

एवञ्च भट्टनायकाभिमतं भरतसूत्रस्य व्याख्यानं भवति—संयोगात्=भोज्य-भोजकभावसम्बन्धात्, रसस्य निष्पत्तिः=भुक्तिर्भवति। अत एवास्य वादो भुक्तिवादनाम्ना प्रसिद्धः।

अभिनवगुप्तस्य अभिव्यक्तिवादः अथ भट्टनायकोत्तरकाले लब्धजन्मने साहित्यविदेऽभिनवगुप्तपादाय भट्टनायकस्यामुष्यापि भुक्तिवादो नारोचत। तेनाकथ्यत यद्रसनिष्पत्तये शब्दस्याभिधा-व्यापारवदन्यद्-भावकत्व—भोजकत्वव्यापारद्वयकल्पने मानाभावः, साक्षात्कारस्य तथाविधकल्पनेऽपि प्रमाणशून्यतया सति व्यञ्जना-व्यापारे च नूतनस्यैकस्याप्यस्य भोजकत्वव्यापारस्य कल्पने गौरवदोषश्च। यतो भावनातार्य व्यञ्जनया पूर्यते, भोजकत्वञ्च स्वयं रसनिष्पत्तिरस्त्येव। एवम्प्रकारेणोभावपीमौ नूतनौ व्यापारौ व्यञ्जनाकुक्षिगतावेव। लिखति अभिनवगुप्तः—'व्यंशायामपि भाव-नायां कारणांशो ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि...... लोकोत्तरो ध्वनन-व्यापार एव मूर्धाभिषिक्त' इति। तस्माद्रत्यादिस्थायिभावानां विभावादिभिः सह व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावसम्बन्धाद्रसस्याभि-व्यक्तिः, न पुनरुत्पत्तिः, अनुमितिः, भुक्तिर्वेति भरतसूत्रार्थः। इममेवाभिव्यक्तिवादं भट्टमम्मटः स्वीकृतवान्। अलिख्यत तेन—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' इति।

अभिनवगुप्तस्यास्त्ययं रसाभिव्यक्तिप्रकारः — अस्माकं दैनिकव्यवहारे ये प्रमदादयो लोकास्तत्तद्रत्यादिभावानां जागतौं कारण-कार्य-सहकारिरूपाः सन्ति ते एव तत्तद्रसोपचित-ललितभाव-विन्यास-बन्धुरेषु काव्येषु नाट्येषु च समर्पिता अलौकिकविभावना-व्यापारवत्तया विभावानुभावसञ्चारिशब्द-व्यपदेशं लभन्ते । तैः पुनरयमेतद्विषयकरतिमान् तादृशरत्यादि-कार्यरूपकटाक्षादिमत्त्वादित्याकारकानुमाने सम्यगभ्यासपाटव-वताम् — अर्थान्नैरन्तर्येण तादृशवातावरणसम्पर्कतया उद्बोध-योग्यरत्यादिवतां सामाजिकानां हृदि वासनारूपतया स्थायी भावस्तस्मिन् समये व्यक्तिविशेषेण सह सम्बन्धासम्बन्धानिर्धा-रणात्त्यक्तपरिमितप्रमातृभावेन प्रमात्रा = रसास्वादयित्रा दर्शकेन सकलसहृदयेषु सामाजिकेषु समानरूपेण संवादभाजा = सम्बन्ध-भाजा साधारण्येन = कामिनीविषयकसाधारणोपायेन स्वाकार इव अभिन्नोऽप्यनुभवविषयीक्रियमाणः, चर्वणामात्रस्वरूपः, यावद्विभावादिस्थितिकः, विभावादिमेलनात् पानकरसन्यायेन आस्वाद्यमानः, मूर्तिमान् पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिव स्वात्मसात्कुर्वन्, स्वातिरिक्तं सर्वमन्यच्चर्वणा-विषयाद् दूरीकुर्वन् ब्रह्मास्वादमिवालौकिकानन्दमनुभावयन् रस-रूपतया परिणमति ।

सोऽयं रसो विभावादिसमूहावलम्बनात्मकत्वान्न कार्यः, कार्यत्वव्यतिरिक्तोऽसौ ज्ञाप्योऽपि न। यतो ज्ञाप्यो घटादिः सन्नपि कदाचिदज्ञो जायते, किन्तु रसस्य तु स्वसत्तायां वर्तमानायां न कदापि तत्प्रतीतिव्यभिचारो जायते ।[नहि लोके कार्य-ज्ञाप्यत्वा-न्यामन्यद्वस्तु तु क्वचिदपि न दृश्यते ? अवश्यं नैव दृश्यते, परं रसवस्तु तु दृश्यते एव, एतदेव रसस्यालौकिकत्वम्। एवं कार्यत्व-रहितोऽपि रसः स्वचर्वणानिष्पत्त्या कार्यत्वरूपेण वक्तुं

शक्यश्चर्वणाऽभिन्नत्वात् । सहैव ज्ञाप्योऽपि कथयितुं शक्य:, लोकोत्तरस्वसंवेदनगोचरत्वात् । इदमेव हि अस्यालौकिकं रूपम् ।

आश्चर्यम्, यदि रसोऽयं न कार्यस्तर्हि अनेन नित्येन भाव्यम् । किन्तु हन्त ! अयं नित्योऽपि न । यतो विभावादिज्ञानात् पूर्वं तत्संवेदनमेव न भवति । यद्ययं नित्यो न तर्हि एष भविष्यन् भवेत्, परं तदपि न । स तु साक्षादानन्दमय: प्रकाशरूप:, भविष्यत्त्वे तस्यानुभव एवासम्भव: । किं तर्हि अयं वर्तमान: ? किन्तु वर्तमानेन तु कार्येण ज्ञाप्येन वा भवितव्यम्, अयं तु तद्विलक्षण:, अतो वर्तमानोऽपि न वर्तते । एवं सति तु रसो निर्विकल्पकज्ञानग्राह्य: स्यात्, परं तदपि न, निर्विकल्पकज्ञानस्य प्रकारताहीनत्वात् । एष रसस्तु विभावादिपरामर्शविषयक:, परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वेन च तद्विरुद्धतां भजते । तर्हि अनेन सविकल्पकज्ञानसंवेद्येन भवितव्यम्, परं तदपि न । सविकल्पकसंवेद्ये वचनप्रयोगयोग्यता भवति, रसे तु न सा दृश्यते, तस्यानिर्वचनीयत्वात् । एवं नायं सविकल्पकज्ञानसंवेद्य: अपि । एवंविधे व्यतिकरेऽयं परोक्षो भवेत् । किन्तु हन्त ! हन्त !! रसोऽयं परोक्षोऽपि न, तं साक्षात्कुर्वन्त्येव सहृदया: । शब्देभ्य: समुत्पद्यतेऽयम्, अत: प्रत्यक्षोऽपि वक्तुं न शक्यो रस: ।

एवं रसे परस्परविरुद्धता वर्तते । यद्यपि लोके मिथो विरुद्धताभावोऽसम्भव:,किन्त्वलौकिके ऽस्मिन् रसे सर्वं प्रसज्जते । यथेश्वरस्यालौकिकस्य मिथो विरुद्धभावा अनल्पा दृश्यन्ते, तद्वदस्यापि । उभयाऽभावस्वरूपस्यास्योभयात्मकत्वं लोकोत्तरतामेव प्रथयति तदीयाम्, न हि पुनरस्य हीनतामिति ।

अयं भाव: — रतिकारणादीनामनुभवादसकृदनुमिता

रतिः सहृदय-हृदयमधितिष्ठति । अथ च कियता कालेन सुनिपुणमनुष्ठितयोः राम-सीतादिव्यक्तिविशेषसम्बन्धि-रति-करण-विभावादिप्रतिपादकयोरपि काव्यनाट्ययोः सहृदयता-सहकृत-भावनामहिम्ना साधारणीकरणं भवति । तेन च साधा-रणीकृतैर्विभावादिभिर्वासनारूपेण सहृदयहृदयावस्थिता सा रतिर्व्यञ्जनाव्यापारेणाभिव्यक्ता सती सामाजिकानामास्वाद्य-तामायाति । एतादृशः आस्वाद एव रसनिष्पत्तिर्निगद्यते ।

सोऽयं रसः, न ज्ञाप्यः, न च कार्यः, सहैव कार्योऽपि ज्ञाप्योऽपि वर्तते । निर्विकल्पकज्ञान-सविकल्पकज्ञानविलक्षणश्चायं विद्यते । न चाप्ययं परोक्षः, नापि च प्रत्यक्षः । सेयमस्य परस्परविरुद्धता एवास्यालौकिकत्वं प्रचारयति ।

अर्थात् पूर्वानुभवसंस्कारबलेन वासनारूपेण रत्यादिर्भावः सर्वेषु मनुष्येषु तिष्ठति । अथ कस्मिन्नपि सीता-शकुन्तलादि-विषयक-काव्यनाटकानां श्रवणावलोकनसमये भावकत्वव्यापारेण सीतात्वशकुन्तलात्व-विशेषाणां विहाय साधारणनायिकात्वेन प्रतीतैर्विभावादिभिः सहृदय-हृदयस्थितः स रत्यादिस्थायिभावो व्यञ्जनया अभिव्यक्तः सन् रसपदवीमधिरुह्य सहृदयानां सामाजिकानामास्वाद्यतामायाति ।

एतन्मतानुसारं भरतसूत्रस्य अयमस्त्याशयः — संयोगात् =व्यङ्ग्य - व्यञ्जकभावरूपात् सम्बन्धात्, रसस्य निष्पत्तिः= अभिव्यक्तिर्भवति ।

अथ रसनिष्पत्तिप्रक्रियायां भट्टनायकाभिनवगुप्तयोरस्ति स्वल्पः सोऽयं भेदः । तत्र भट्टनायकः —

साधारणीकरणं भावनाव्यापारं निर्दिशति, अयञ्च तद् व्यञ्जनाव्यापारं कथयति, परं साधारणीकरणं द्वावपि स्वीकुरुतः।

-सहैव भट्टनायकः सामाजिकेष्वनवस्थिताया असत्या अपि रते-रास्वादं मनुते किन्त्वभिनवगुप्तः सामाजिकेषु वासनारूपेण -स्थिताया रतेरास्वाद स्वीकुरुते। एतन्मतानुसारं रसवासनाशून्या वेदाभ्यासजडा वैदिका मीमांसकाः वैयाकरणादयो वा न कदाप्यलौकिकं काव्यरसास्वादमोदं प्राप्तुं शक्नुवन्ति। धर्मदत्ता-चार्यस्तु निर्वासनान् पाषाणसंनिभान् प्रतिपादयति। यथोक्तं तेन —

"वासना चेन्न हेतुः स्यात् स स्यान्मीमांसकादिषु।
सवासनानां नाटयादौ रसस्यानुभवो भवेत्।"
निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुड्याश्म-संनिभाः॥ इति।

एवमभिनवगुप्तस्य मतानुसारं सोऽयं निष्कर्षः समायाति सर्वसम्मुखम् —

१—रसनिष्पत्तिः सामाजिकेषु भवति।

२—सामाजिकेषु स्थायिभावा वासनारूपेण तिष्ठन्ति।

३—स्थायिभावाः साधारणीकृतैर्विभावादिभिरुद्‌बुद्धास्तथा जायन्ते यथा जलप्रोक्षणेन मृदामव्यक्तगन्धो व्यक्तो जायते।

४—काव्यनाटकादीनां पठनं दर्शनं वा सहृदयानां स्थायिभावानां जागर्त्तौ साधनमस्ति। पाठका दर्शकाश्च आत्मन एवोद्-बुद्धानां स्थायिभावानां शुद्धरूपेण तन्मयताकारणात् चित्त-वृत्तीनामेकावस्थानाद् ब्रह्मानन्दसहोदरं रसमास्वादयन्ति।

५—रसास्वादनसमये सामाजिकानां मनो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यं -भवति। तेषां च सीमितः सङ्कुचितः-प्रमातृभावोऽर्थात् ज्ञातृत्वभावो नश्यति।

६—अस्यां रसनिष्पत्तिप्रक्रियायां साधारणीकरणस्य महन्महत्त्वं

विद्यते । सर्वविधसम्बन्धेभ्यः स्वातन्त्र्यावस्थितिरेव संक्षेपतः साधारणीकरणं प्रोच्यते ।

७—भरतसूत्रपठितस्य संयोगशब्दस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप-सम्बन्धो निष्पत्तेश्चाभिव्यक्तिरित्यर्थो भवतीति ।

अभिनवगुप्तस्य अमुमेव सिद्धान्तम्:—भग्नावरणचिद्विशिष्टरत्यादिरेव रसः— इति मम्मटोऽपि अभिमनुते । महता समादरेणाय सिद्धान्तमिमं समुद्धृतवान् ।

मम्मटसमयोत्तरं काव्याङ्गानां विशेषप्रतिपादकेन कविराज-विश्वनाथेनाप्यात्मनः पूर्ववर्तिनो मम्मटस्यैव पन्था अनुसृतः । अस्य मतानुसारमपि विभावादिद्वारा व्यक्तः स्थायिभाव एव सहृदय-हृदयेषु रसत्वमुपयाति । किन्त्वयं कविराजो व्यक्तशब्दस्यार्थं प्रकाशनं निराकृत्य पयसो दधि इव रूपान्तरे परिणमनं मन्यते — इति ।

दर्पणकार-विश्वनाथादनन्तरं लब्धजनुषा पण्डितराजोपाधिजुषा जगन्नाथविदुषा अपि रसाभिव्यक्तिपद्धतेर्विषयेऽभिनवगुप्तपादस्यैव सिद्धान्तोऽन्वसृत । उपपादनप्रकारे स्वल्पं वैमत्यमिदमस्ति यदयं रत्यादिस्थायिभावसंवलितं निरावरणं चैतन्यं रसं स्वीकरोति । अस्यास्त्वयं संक्षेपः —

(अभिनवगुप्तसंमतो जगन्नाथोपपादितो रसस्वरूपप्रकारः)

सहृदयसामाजिका यदा विभिन्नरसवन्ति काव्यानि शृण्वन्ति पश्यन्ति च तदा तत्र वर्णितास्तत्तत्स्थायिभावानां कारणकार्यसहकारिणस्तेषां हृदयेष्वनुप्रविष्टा भवन्ति । लब्धप्रवेशानां च तेषां व्यक्तिविशेषवर्तिनो धर्माः सीतात्वशकुन्तलात्वादयो भावनामहिम्ना अपोहिता भूत्वा विभावानुभावव्यभिचारिशब्दैर्व्यपदिष्टा

जायन्ते। इमे च विभावादयः संमिल्य व्यञ्जनाव्यापारं जनयन्ति। व्यञ्जनाव्यापारश्च सामाजिकानामात्मानन्दस्याज्ञानावरणं नाशयति । तेन च सामाजिकानां प्रमातृत्वभावोऽपि नश्यति । नष्टप्रमातृभावैश्च तैः स्वात्मानन्देन सहैवानुभूयमानो वासनारूपेण स्थितो रत्यादिस्थायिभावो रसपदवीमधिरोहति ।

अयं भाव ,यथा केनचन शरावादिपात्रेणापिहितो दीपकस्तन्निवृत्तौ समीपस्थान् पदार्थान् प्रकाशयति स्वयमपि च प्रकाशते तथैव व्यञ्जनाव्यापारेण दूरीकृताज्ञानावरणमात्मचैतन्यं विभावादिसवलितान् रत्यादीन् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते । यदा च विभावादिचर्वणाया निवृत्तिर्भवति तदा तदव्यधिकस्यावरणभङ्गस्यापि निवृत्या पुनः प्रकाश आवरणेन आवृतो जायते। अतस्तस्यां स्थितौ विद्यमानोऽपि रत्यादिर्न प्रकाशते । एवं च रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः — इति जगन्नाथरीत्या अभिनवगुप्तसिद्धान्तस्य स्वारस्यम् ।

काव्येषु गुणालङ्कार - स्थानम्

गुणशब्दोऽयं विभिन्नेषु शास्त्रेषु विभिन्नानर्थान् प्रकटयन् दृग्गोचरी भवति । व्याकरणशास्त्रे गुणशब्देनाकारैकारौकाराणां ग्रहणं भवति, वेदान्तादिशास्त्रेषु गुणशब्दः सत्त्व-रजस्तमांसि द्योतयति, न्यायशास्त्रे गुणशब्दो रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादीनां चतुर्विंशतीनां बोधको जायते, लौकिके व्यवहारे च गुणशब्देन शौर्यादयो गृह्यन्ते। किन्त्वत्र काव्यशास्त्रप्रसङ्गे गुणशब्देनास्माकमाशयो माधुर्य-प्रसादादीनां कृते वर्तते ।

एतेषां काव्यशास्त्रप्रसिद्धानां गुणानां गणनायां १०२५ तमखिस्तवत्सरात् पूर्वं प्रायः काव्यविदामाचार्याणां विचाराणां स्वातन्त्र्यमेव दृशं स्पृशति। यतः कश्चनाचार्यस्त्रिंशद्गुणान्, कश्चिच्चतुर्विंशतिगुणान्, अपरो नवदश गुणान्, अन्यश्च कश्चन पुनरष्टौ दशैव वा गुणान् लिलेख। यस्य मनसि यादृशी भावना व्यस्फुरत्तेन तस्मिन्ननेहसि तादृश्यैव गुणसङ्ख्या व्यलिख्यत। खिस्तीयात् १०२५ तमवत्सरात् १०७५ तमवत्सरपर्यन्तस्य समयं भट्टमम्मटस्य मन्यन्ते ऐतिह्यामिकाः। नायं स्वकीये समये काव्यशास्त्रनाये विचित्रमिद स्वातन्त्र्यसाम्राज्यं द्रष्टुमशक्नोत्। अतः स आत्मनो लोहलेखन्या गुणगणगणनासम्बन्धीनि तानि प्रचलितानि विभिन्नानि मतानि वैदुष्यमवलिताभिर्युक्तिभिर्खण्डयित्वा तेषु गुणेषु कञ्चन दोषस्याभावमात्रं, कञ्चिद्गुणमपरस्यान्तर्गतं, कमपि चालङ्कारमात्रं विनिर्दिश्य सर्वविधरचनाः केवलं कोमल-कठोर-स्पष्टार्थासु त्रिविधासु विभज्य ता माधुर्ये, ओजसि, प्रसादे चैतेषु त्रिष्वेव गुणेषु समाविष्टाश्चकार सपाण्डित्यम्। मम्मटस्यास्य युक्तीः खण्डयितुं चतुर्दशशताब्द्यां समुत्पन्नो विश्वनाथः सप्तदशशताब्द्याश्च लब्धजन्मा पण्डितराजोपाधिसनाथोऽपि जगन्नाथो न शशाक। आभ्यामपि प्राप्तप्रतिष्ठाभ्यां लब्धख्यातिभ्यां साहित्याचार्याभ्यां मम्मटस्यैव मतमनुसृतम्।

त्रिष्वेषु गुणेष्वानन्दवशादन्तःकरणं येन सद्यो द्रवीभूतं भवति स माधुर्यगुणः, यस्य च श्रवणमात्रेणैव मनस्युद्दीपकता जायते स ओजोगुणः, अथ च यः शुष्के काष्ठे वह्निवत् स्वच्छे वसने च जलवत् सहसा चेतसि व्याप्तो भवति स प्रसादगुणोऽभिधीयते। अस्मिन् सन्दर्भेऽस्माकं पूर्वाचार्यास्त्विदमप्यन्वेषणं चक्रुर्यद्वर्णमालायाः केषां केषामक्षराणां योजनया कस्य कस्य गुणस्य रचना भवितुं शक्नोति, सा च रचना कं कं रसं पुष्णा-

तीति । एतेषामनुसन्धानमनुसृत्य सहृदयाना सता स्वकीयं दीर्घानुभवञ्चादृत्य माधुर्यगुणः प्रायः सम्भोगशृङ्गारे, ततोऽधिकं विप्रलम्भशृङ्गारे, ततोऽप्याधिक्येन शान्ते शोभते। अदसीया वर्णा पञ्चमवर्णसंयुक्ताः स्पर्शा 'ट-ठ-ड-ढ'- रहिता गृहीताः सन्ति । अत्र हि अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वाऽपेक्षिता, लालित्यसवलिता मधुरा रचना च । ओजोगुणो वीरे,तदपेक्षया वीभत्से तदपेक्षयाऽपि रौद्रे रसे चमत्कारकारकोऽनुभूतः । अस्य वर्णा वर्गाणां प्रथम-द्वितीयास्तृतीय-चतुर्थाश्च मिथो मिलिताः, ट-ठ-ड-ढा उपर्यधः उभयोर्वा रेफसहिताश्च शोभासंवर्धका भवन्ति । अत्र हि समासवाहुल्यं परमोत्कृटा रचना च शोभतेतराम् । प्रसादो गुण. सर्वेष्वेव रसेषु सर्वास्वेव रचनासु च शोभाभिधायको भवति । श्रुतिमात्रेणैवार्थवोधका मनःप्रसादकरा वर्णा प्रसादगुणं पुष्णन्तीति ।

अथ केऽमी गुणपदार्था. ? कैश्चेमे सम्बद्धाः किञ्च स्थानमेषां काव्यरचनास्विति विचार-सञ्चारे कथयन्त्यभियुक्ता.—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ इति ।

अर्थाद्यथा शौर्यादिगुणाश्चेतनात्मनो धर्माः सन्ति तथैव माधुर्यादिगुणाः प्रधानरसस्य धर्माः सन्ति । इमे च रसोत्कर्षस्य कारणतां यान्ति, रसेऽश्चाचलस्थित्या तिष्ठन्तीति । अस्यायमेव सारांशो यच्छौर्यादयो गुणा यथा मनुष्यं समुत्कृष्टं वितन्वन्ति तथैव माधुर्यादयो गुणाः काव्यं समुत्कृष्टं कुर्वन्तीति ।

गुणानामेषां संस्थिती रसवत्काव्येष्वेव भवति, नहि

नीरसेषु। किन्तु भ्रान्ता अदूरदर्शिनो मनुष्या यथा कस्यचन शौर्यादि-व्यञ्जकमाकारविशेषं दृष्ट्वैव तं शूरवीरं वक्तुं प्रवर्तन्ते, कस्यचिच्छूरवीरस्य च केवलं शारीरिकं कार्श्यं विलोक्यैव तं भीरुहृदयं कथयितुं चेष्टन्ते तथैव रसास्वादशून्या मनस्विनः केवलं मृदुलवर्णरचनाशोभत्वेनैव मोहमुपगता इत्थं नीरसरचनामपि माधुर्यादिगुणवतीं कथयन्ति, माधुर्यरसव्यञ्जकवतीमपि च रचनां केवलमसौकुमार्यवैवामधुरं व्यवहरन्ति। परन्तु वस्तुतो गुणास्थितिर्न केवलं वर्णरचनामेवावलम्बते। इमे गुणा हि रसधर्मा वर्तन्ते, अत एषां सम्बन्धो रसैः सह विद्यते। समुचित-वर्ण-समासादयस्त्वेषामभिव्यञ्जका एवेति।

यदीह प्रश्नोऽयमवश्यं समुदेष्यति चेतस्विनां मानसेषु। यदा हि गुणा रसधर्माः स्वीकृतास्तदा वर्णैः सहैषां नित्यस्थितिरपि कथं कर्तुं शक्यते, शब्दार्थयोस्त्वपि मधुरादिव्यवहारोऽपि दुर्घट एव। कथं पुनः साहित्यिकेषु 'काव्येऽत्र मधुरः शब्दः, मधुरश्चार्थः, रचनेयं मधुरवर्णवती' इत्यादिरूपो व्यवहारः प्रचलितोऽस्ति? एवंविधे व्यतिकरे प्रवदन्ति काव्यविदः —

"गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता" इति

अर्थाद्यथाऽस्मिन् भौतिके स्थूलशरीरे आत्मनः शौर्यादिगुणानां गौणसम्बन्धोऽस्ति तथैव सुकुमारशब्दार्थरचनासु गुणानां गौणसम्बन्धस्तिष्ठति। सोऽयं सम्बन्ध औपचारिको लाक्षणिको वापि कथ्यते।

संक्षेपतोऽस्यायमेव सारांशो वर्तते, यथा शौर्यादिगुणानां सम्बन्धो मनुष्यस्य आत्मना भवति, न पुनर्जडशरीरेण, तथैव माधुर्यादिगुणानामपि सम्बन्धः काव्यस्यात्मभूतेन रसेन भवति,

न केवलं शब्दसङ्घटितरचनया। कस्यचित् पुरुषस्य विशालं शरीरमेव विलोक्य यथा तस्मिन् शूरत्वकल्पना, कस्यचित् पुरुषस्य च कृशं शरीरं दृष्ट्वा तस्मिन् भीरुत्वभावना केवलमदूरदर्शित्वमेव विद्यते तथैव रचनायाः केवलं मधुर-वर्ण-सङ्घटनं वीक्ष्य 'इयं माधुर्यगुणवती'इति कथनं,कस्याश्चन रचनायाश्च अमधुर-कर्णकटु-वर्णसङ्घटनं निरीक्ष्य तस्या माधुर्यहीनत्वनिदर्शनं विचारशून्यत्वमेव मनस्विनाम्। शब्दोऽयं मधुरः, अर्थोऽयं मधुरः—इत्यादिप्रयोगाः केवलं लाक्षणिकाः। अतो निरवद्यं गुणा रसधर्माः सन्ति, रसोत्कर्षस्य हेतवः सन्ति,रसे च अचलस्थित्या तिष्ठन्ति। एषां सम्बन्धो रसेनैव साक्षाद्रसे।

अथ अलङ्काराः शोभाकारकाः सन्ति। यथा कामिन्याः कोमले कलेवरे धृतानि हारकेयूरादिविभूषणानि तस्याः सौन्दर्यमभिवर्धयन्ति तथा अलङ्कारा अपीमे कविता-कामिन्याः शोभां संवर्धयन्ति। अत एते प्रायो रसोत्कर्षका एव, न रसधर्माः, नापि च रसाव्यभिचारिस्थितिकाः। यथा हारकटकादयोऽलङ्काराः करकण्ठादिषु धृतास्तान् करकण्ठादीन् चमत्कृत्यैव तत्करकण्ठादिद्वारा मनुष्यं शोभयन्ति, न साक्षाद्रूपेण, तथैव अनुप्रासोपमारूपकादयोऽलङ्काराः प्रथमं शब्दार्थावलङ्कुर्वन्ति, ततस्तद्द्वारा अङ्गिनं प्रधानं रसमुपकुर्वन्ति। यत्र च नास्ति रसस्तत्र केवलं शब्दार्थान् वाऽलङ्कुर्वन्ति, कुत्रचिन्न सत्यपि रसे विजातीयालङ्कारतया न तं रसं स्वल्पमप्यलङ्कुर्वन्ति। अत एवालङ्कारलक्षणं लिखन्ति याथार्थ्यविदः—

> उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
> हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ इति।

काव्यात्मभूतरसस्य विशेषता शब्देनार्थेन चापि भवति, काव्यत्वमपि शब्दार्थोभयनिष्ठं स्वीक्रियते । अतोऽलङ्कारा अपि द्विविधा भवन्ति शब्दालङ्कारा अर्थालङ्काराश्च । किन्तु यत्र शब्दार्थाभ्यामुभाभ्यामेव काव्ये चमत्कृतिर्जायते तत्रोभयालङ्कारोऽपि स्वीक्रियते । अतः शब्दपरिवृत्त्यसहत्वं शब्दालङ्कारत्वम्, शब्दपरिवृत्ति-सहत्वमर्थालङ्कारत्वम्, शब्दपरिवृत्ति-सहत्वाऽसहत्वाभ्यां चोभयालङ्कारत्वमिति निर्गलितोऽर्थः । तत्रानुप्रास-यमक-वक्रोक्तिप्रभृतयः शब्दालङ्काराः, उपमारूपकादयश्चार्थालङ्काराः । यद्यपि पुनरुक्तवदाभासः श्लिष्टपरम्परितरूपकश्चेमावलङ्कारावुभयालङ्कारकोटिगतावेव तथापि प्राचीनैराचार्यैः प्रथमः शब्दालङ्कारमध्ये उदाहृतः, द्वितीयश्चार्थालङ्कारमध्ये—इति त एव प्रमाणम् ।

एतेषामलङ्काराणां रचनायामवश्यं केनचन मूलतत्त्वेन भाव्यम्, यदाधारीकृत्यैते भाषाविभूषणतामायाताः । विषयेऽत्र चिरमन्विष्य पूर्वाचार्याः स्थिरमकुर्वन्, यच्छब्दालङ्कारेषु कतिचनावृत्तिमूलकाः, कतिपये श्लेषमूलकाः, केचन च चित्रमूलकाः सन्ति । अर्थालङ्कारेष्वप्युपमा-रूपकादयः सादृश्यमूलकाः, असङ्गति-विभावना-विषमादयो विरोधमूलकाः, अर्थापत्ति-काव्यलिङ्गानुमानादयो न्यायमूलकाः, एकावली-मालादीपक-कारणमालाप्रभृतयोऽलङ्काराः शृङ्खलाबद्धाः, व्याजोक्तिप्रभृतयश्चालङ्कारा गूढार्थप्रतीतिमूलकाः कथयितुं शक्यन्ते ।

गुणानामलङ्काराणाञ्च काव्ये किं स्थानमिति निर्वक्तुं सर्वप्रथमं काव्यस्यात्मा समन्वेषणीयः । गुणालङ्कारेषु च ये च काव्यस्यात्मभूताः काव्यात्मना वा दृढं परिगृहीतास्तेषामेव तत्र प्रमुखं स्थानमिति । अथ काव्यात्मसम्बन्धिनि विचारेऽत्र प्रवृत्ते

मुनिर्भरतो "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" इत्युल्लिख्य काव्ये रसमहत्त्वं न्यदर्शयत् । अग्निपुराणलेखको मुनिर्व्यासोऽपि 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति विलिख्य रसमेव काव्यजीवनं प्रत्यपादयत् । एतदनन्तरं ध्वनिसम्प्रदायस्य प्रथमः प्रवर्तको ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्योऽप्यात्मनः काव्यानुसन्धानेन काव्ये व्यङ्ग्यानुसन्धानं विधाय 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' इति विनिर्दिश्य च रसालङ्कारवस्तुरूपध्वनिमेव काव्यस्यात्मानममनुत । त्रिष्वपि ध्वनिषु रसध्वनिरेवात्र प्रमुखतां भजते-इत्यपि न विस्मरणीयम् । एतदुत्तरकालिका भट्टमम्मट-कविराज-विश्वनाथप्रभृतयः सूरिशिरोमणयोऽपि केनापि रूपेणेममेव सिद्धान्तमन्ववर्तन्त ।

अत्रेदमपि हृदि करणीयं यदानन्दवर्धनाचार्यतः पूर्ववर्त्तिनो भट्टभामह-भट्टोद्भट-भट्टरुद्रटादयः सुधियो न रसध्वनिं काव्यात्मानं स्वीकृत्य अलङ्कारमेव काव्ये प्रधानममन्यन्त । यदि केनचन रसः स्वीकृतस्तर्हि तेनालङ्काररूपेणैव स अमन्यत । एतदनन्तरं वामनाचार्यो रसं 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' इति विलिख्य गुणान्तर्भूतं तं व्यकरोत् । "रीतिरात्मा काव्यस्य" इत्यनुसारञ्च काव्यजीवनं रीत्यवलम्बितं प्रत्यपादयत् । रीतिश्च गुणस्वरूपैव यतो रीतेरर्थं स्पष्टं कुर्वता वामनविपश्चिता स्वकीये 'अलङ्कारसूत्रे' लिखितं यत् "विशिष्टपदरचना रीतिः" "विशेषो गुणात्मा" इति । किन्त्वेतदुत्तरवर्त्तिनो रुय्यकमनस्विनोऽलङ्कारसर्वस्वकारा युक्तियुक्तमिदं सर्वं भामह-वामनादीनां विचारजातं खण्डशो विधाय व्यङ्ग्यस्यापनोपसंहारे व्यलेखिषुर्यत् — "व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः" (अलं० सर्व०) इति । एतेन वाक्यार्थभूतस्य व्यङ्ग्यस्यैव काव्यात्मत्वं सिध्यति ।

अनेन प्रपञ्चेन स्पष्टं जायते, यत् काव्ये काव्यत्वस्यापकेषु त्रिविध-व्यङ्ग्येषु रस एव सर्वसम्मतः काव्यात्मभूतश्चेति। साम्प्रतञ्चेहेदमप्यवलोकनीयं यदेतत्काव्यजीवनभूतेन रसेन सह गुणालङ्कारयोः कस्य साक्षात्सम्बन्धः कश्च तत्स्वरूपसम्पादने परमावश्यकः ?

सन्दर्भेऽत्र संस्कृतसाहित्येतिवृत्ते कृते दृष्टिपाते तदिदमेव दृष्टिमुपयाति, यथा गुणानां सङ्ख्यानिर्देशे मम्मटतः पूर्ववर्तिन आचार्याः स्वातन्त्र्यमवलम्बमाना आसन्, तथैव ते गुणालङ्कारयो रससम्बन्धप्रदर्शनेऽपि स्वतन्त्रा एवावर्त्तन्त यतः काव्यालङ्कारकारो भामहाचार्यो गुणानलङ्कारांश्च समानान् स्वीकृत्याप्यलङ्कार–कृते गुणशब्दं प्रयुक्तवान्, यथा — 'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्' इति। कारिकायामस्यामलङ्कारो भामहेन गुणशब्देन स्मृतः। अथ कविर्दण्डी काव्यादर्शे स्थाने स्थाने गुणालङ्कारयोर्द्वयोरेव कृते 'मार्ग'-शब्दं प्रायुङ्क्त, तथा 'एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः" इति विलिख्य गुणान् रचनायाः प्राणभूतान्, अलङ्कारांश्च 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' (काव्यादर्शः) इत्यनुसारं रचनायाः शोभाकरधर्मान् स व्यवहृतवान्। एतदनन्तरं पुनः काव्यालङ्कारसारसंग्रहस्य रचयितुर्भट्टोद्भटाचार्यात् पूर्ववर्तिनः कतिपये आचार्या गुणालङ्कारयोभिन्नतां दर्शयाम्बभूवुः। किन्तु उद्भटाचार्यः :— 'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः — इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेद." इत्युल्लिख्य द्वयोरेव काव्ये समान स्थानममन्यत। अस्य कथनस्येदमस्ति तात्पर्यं, ये विद्वांसो जना गुणान् पुरुषेषु नित्यसम्बन्धेनावस्थितानां शौर्यादीनामिव,

अलङ्कारांश्चानित्यसम्बन्धेनावस्थितानां हारकुण्डलादि - विभूषणानामिव निर्दिश्योभयेषामेषां विभिन्नतां प्रतिपादयन्ति तेषामिदं कथनं गड्डलिका-प्रवाहमात्रं, नात्र किञ्चिदपि तथ्यम् । पुरुषे तु शौर्यादयो गुणा नित्यसम्बन्धेन, हारादयोऽलङ्काराश्चानित्यसम्बन्धेन नूनं स्थातुं शक्यन्ते किन्तु काव्ये तु गुणा अलङ्कारा उभयेऽप्यलौकिकत्वात् समवायवृत्त्यैव (नित्यसम्बन्धेनैव) तिष्ठन्तीति ।

अथ सोऽयं प्रश्नो यदा वामनाचार्यसंमुखं समायातस्तदा तेनेत्थं सम्बन्धेऽस्मिन् स्वविचारः प्रचारितः — "काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" अर्थात् काव्यस्य शोभाया जनका धर्मा गुणाः सन्ति, तस्याः शोभायाश्च अतिशयहेतवोऽलङ्काराः कथ्यन्ते । अतो वामनानुसारं काव्ये काव्यत्वव्यवहारापादका गुणाः सन्ति, अलङ्कारास्तु गुणकृतशोभाया उत्कर्षका एवेति ।

एवं गुणालङ्काराणां विषयमिममवलम्ब्य लोकानां स्वातन्त्र्यं लोकं लोकं विलोडितहृदयेन राजानकमम्मटेन पुनरारम्भलेखनीं प्रचालयितुं विवशेनाभूयत । असौ हि पूर्वोक्तमतेषु भट्टोद्भट-वामनयोः सुप्रसिद्धयोराचार्ययोरेव विचारनिराकरणेन समेषाममीषां मतखण्डनं भवतीति विचार्य काव्यप्रकाशे उद्भटस्य मतमुद्धृत्य तदसिद्धं प्रतिपादयन् वामनस्य गुणालङ्कारभेदमपि युक्तियुक्ताभिः शास्त्रोक्तिभिः खण्डयाञ्चकार ।

मम्मटस्येदमस्ति कथनं, यदि काव्यव्यवहारहेतवो गुणा एव वर्त्तन्ते तर्हि काव्यव्यवहारः किं समस्तानामेव गुणानामुपस्थितौ करिष्यते, वा कतिपयगुणानामाधारेणैव? यदि समस्तगुणैरेव काव्यव्यवहारस्तर्हि रीतिमेव काव्यात्मकोटौ कथयतो

वामनस्यैव मते समस्तगुणवती गौडी पाञ्चाली च रीती कथं काव्यस्यात्मकोटौ प्रविश्य काव्यव्यवहारकारणतां यास्यतः? अतोऽत्र अव्याप्तिदोषः स्पष्ट एव। यदि च कतिपयगुणैरेव काव्यव्यवहारस्तर्हि 'अस्त्यत्र प्रज्वलदग्निरुच्चैः प्राज्यप्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः" अत्र रसशून्यत्वेऽपि गाढरचनाहेतुत्वादोजोगुणो विद्यत एव। अतः पद्यमिदमपि काव्यव्यवहारयोग्यतामुपगच्छेत्। किन्तु सरस-हृदयानां कवीनां सम्प्रदायेन तदिदं काव्यव्यवहारतो वहिष्कृतमस्त्येवेत्यत्रातिव्याप्तिरापतति। अतः सिध्यति, वामनमतानुसारं काव्ये काव्यत्वव्यवहाराधानं न गुणैर्भवति।

एवं मम्मटो वामनस्य काव्यव्यवहारक्रमे गुणविचारं सम्लुप्यालङ्कार-विचारमालोचयन् कथयामास, यदि गुणकृतशोभायाः समुत्कर्षका अलङ्काराः सन्ति वामनमते तर्हि काव्यजगति तादृग्विधान्यपि पद्यानि विद्यमानानि सन्ति, येषु गुणकृतशोभाया अभावेऽपि केवलमलङ्कारचमत्कारेणैव तानि काव्यकोटौ प्रविश्य सहृदयमनो मोहयन्ति। यथा---

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥ इति।

अत्रहि स्वयं वामनप्रतिपादितयोः "एक-गुणहानिकल्पनया शेषगुणदार्ढ्यं - कल्पना विशेषोक्तिः, उपमेयस्य गुणातिरेकत्वं व्यतिरेकः" अर्थादेकगुणस्य हानिं परिकल्प्य शेषगुणैरुभयसाम्यस्य दार्ढ्ये विशेषोक्तिर्भवति, उपमानापेक्षया उपमेयस्याधिक्यप्रदर्शने च व्यतिरेको भवति। इति विशेषोक्ति-व्यतिरेकयोर्लक्षणानुसारं पूर्वार्धे विशेषोक्तिः, उत्तरार्धे च व्यतिरेकः स्पष्ट एव, यतो दिव्यदेहरूपस्यैकगुणस्याभावं परिकल्प्य सुखप्रदत्व - मनोरञ्जकत्वादि-शेषगुणैर्वरवर्णिन्यास्तरुण्याः स्वर्गेण सह साम्यस्य

दाढर्यात् पूर्वार्धेऽत्र विशेषोक्तिः, उत्तरार्धे च-सुधारसरूपादुप-मानादधररसरूपस्योपमेयस्याधिक्यप्रदर्शनाद् व्यतिरेकः। एव-मिह उभावप्यलङ्काराविमौ गुणकृतशोभामनपेक्ष्यैव काव्य-व्यवहारहेतुभूतशोभाया जनकौ वर्त्तेते। परन्तु कठोरवर्णरचना कारणात् पद्येऽत्र वामनस्यैव मतेन ओजोगुणव्यञ्जकवती रचना सिध्यति, या हि शृङ्गारेऽत्र रसे सर्वहेया मता या च माधुर्य-गुणवती रचनाऽत्रापेक्ष्यते तस्याः सर्वथा अभावः।

इत्थं वामनस्य मते ये गुणाः काव्यशोभाकर्त्तारो धर्माः मताः, तैर्गुणैरत्र काचन शोभा नास्ति, प्रत्युत ओजोगुणवती सा रचनाऽत्र विद्यते या शृङ्गाररसे हेयाऽस्ति। एवं यदाऽत्र गुणकृता शोभैव नास्ति तदाऽत्र कथं वराकोऽलङ्कारो गुणकृत-शोभायाः संवर्धको भन्तुं शक्यते। यस्य मते यद्वस्तु वर्त्तत एव न, कथं तस्य वस्तुनस्तत्र वृद्धिरपि भविष्यति? अतो वामनभगवतो मतानुसारं तूक्तपद्ये काव्यत्वमेव न सिद्धं भवति। परं महात्मनोऽस्यैव मतानुसारं पद्ये स्मिन्नलङ्कारद्वय-मस्माभिः प्रतिपादितमेव। तेन च वामनलिखितमलङ्काराणां गुणकृत शोभोत्कर्षकत्वमपि न निर्दुष्टम्।

अथ यदा स्वयं मम्मटस्य सम्मुख सोऽयं प्रश्नः समागतस्तदाऽ-मुना महात्मना काव्ये न त्वलङ्काराणां प्राधान्यं निर्दिष्टम्,न, गुणा लङ्काराणामुभयेषां काव्यात्मता प्रदिष्टा,नापि केवलं गुणानेव काव्ये काव्यत्वाधानहेतून् निर्दिश्य ध्वनिसम्प्रदायस्य रससम्प्रदायस्य वा अपलापो व्यतन्यत। अस्य गुणसम्बन्धिनो विचारास्तु लेखारम्भे समुल्लिखिता एव। येषामयमेव सारांशोऽस्ति यत् काव्ये काव्य-त्वाधानकर्त्तृ रसव्यञ्जनमेव वरीवर्त्ति। एतस्यमुत्कर्षहेतवो धर्मा गुणा भवन्ति। यथा पुरुषे पुरुषत्वस्यास्तित्वं त्वात्मनैव सिध्यति

किन्तु तदुत्कर्षकारिणः शौर्यादयो गुणा भवन्ति। अतो यथा चेतनात्मनः शौर्यादयो गुणा धर्माः सन्ति तथैव काव्ये आत्मभूतस्य रसस्य माधुर्यादयो गुणा धर्माः सन्ति। यत्र काव्ये रसस्थिति-र्भवति तत्र गुणा इमेऽवश्यं रसमुपकुर्वन्ति। एषां च स्थितिरपि रसवत्काव्येष्वेव भवति न पुनर्नीरसेषु।

एवं मम्मटो राजानको रसैः सह गुणानामचलस्थिति निरूप्यालङ्काराणां सम्बन्धे लिखति —

> उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
> हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ इति।

अर्थात् यथा कण्ठाद्यङ्गेषु धृता हारादयोऽलङ्काराः सर्व-प्रथमं तानि कण्ठाद्यङ्गानि विभूषयन्ति, ततस्तैर्विभूषितैरङ्गैः प्रधानस्याङ्गिनः पुरुषस्य शोभां वर्धयन्ति तथैव काव्येषूपमानु-प्रासादयोऽलङ्कारा अपि प्रथमं प्रधानस्याङ्गिनो रसस्याङ्गभूतं शब्दार्थजातं चमत्कुर्वन्ति,ततश्चमत्कृतैः शब्दार्थैः प्रधानस्य रसस्य समुत्कर्षं कुर्वन्ति। यत्र च काव्ये रसः स्पष्टरूपेण न प्रतीयते तत्रेमे उक्तिवैचित्र्यमात्रं वितन्य पर्यवसिता भवन्ति। यथा हि हारादयोऽलङ्काराः कामिन्याः सौन्दर्यस्थितौ तु तस्या अङ्गोत्कर्षं कुर्वते, परमङ्गेषु विकृतेषु कुरूपेषु वा सत्सु ते केवलं दृष्टिवैचि-त्र्यमात्रहेतवो जायन्ते। यत्र तत्र तु परमसुकुमारकामिन्या अङ्गानि ग्रामीण-विभूषणानीव इमे उपमानुप्रासादयोऽलङ्कारा रसस्थितावपि तद्रसस्याननुकूलत्वेन न तमुपकुर्वन्ति—इत्यपि निश्चितम्।

तदनेन प्रपञ्चनेन स्पष्टमिदमजायत, यद्यपि गुणा अलङ्का-राश्चोभयेऽपि काव्योत्कर्षकारिणः सन्ति, परं गुणा रसधर्माः वर्तन्ते,

अत एव रसेन सह अचलस्थितिवशादिमे रसस्य साक्षादुत्कर्षं कुर्वन्ति, किन्त्वलङ्कारा रसस्य धर्मा न सन्तीति ते रसस्य न साक्षात् समुत्कर्षं कर्तुं शक्नुवन्ति। इमे तु शब्दार्थद्वारा परम्परासम्बन्धेनैव रसोत्कर्षं कर्तुं शक्यन्ति। अत एवालङ्काराणां रसैः सह नैव अचलस्थितिः स्वीकृता आचार्यैः। रसवत्काव्येषु रसैः साकं समुल्लसन्तोऽपीमे शब्दार्थद्वारा कुत्रचिद्रसमुन्नमयन्ति, कुत्रचिच्चान्यथासिद्धा भवन्ति।

अतः कथयितुं शक्यते,यत्काव्येषु अलङ्कारापेक्षया गुणानां स्थानं समुच्चं वरीवर्ति। तदिदं हृदि कृत्वैव संमुद्घोषयन्ति सन्तः —

"अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥"(अग्निः)
"अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः॥(भोजः)इति।

गुणालङ्कारयोः पारस्परिको भेदः

महामतिमम्मटतः पूर्ववर्त्तिनः कतिपये विपश्चितः प्रायो गुणानलङ्कारांश्च समानमानानेवामन्यन्त, कतिचन पुनः काव्ये नित्यसम्बन्धेन गुणस्थितिमनियतसम्बन्धेन चालङ्कारस्थितिं स्थापयामासुः, पुनरन्ये साहित्यविदः समवायवृत्त्यैव(नित्यसम्ब-

न्धेनैव) गुणालङ्कारयोः स्थितिं वर्णयामासुः, परं मम्मटाचार्यः पूर्वेषां विदुषां मतम् "एवञ्च समवायवृत्त्या शौर्यादयः, संयोगवृत्त्या तु हारादयः—इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः। ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनाञ्चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः" इत्युल्लिख्य "इत्यभिधानमसत्" अनेन ग्रन्थांशेन समैपातेषां मतं खण्डयामास। तथा च 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति प्रतिपादयतो वामनस्य मतमपि 'तदपि न युक्तम्' अनया पङ्क्त्या भ्रममूलमेव प्रतिपादयामास। यतस्तदनुसारं रीतयो गुणाश्रिताः, रीतिश्च काव्यस्यात्मा। यदि च सर्वैर्गुणैः काव्यात्मा तर्हि न गौडी—पाञ्चाल्यौ रीती काव्यस्यात्मभावं प्राप्तुमर्हतोऽसमस्तगुणत्वात्, अतोऽव्याप्तिदोषः। अथ गुणैः कतिपयैश्चेत् 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्य-प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः' इत्यादावतिव्याप्तिदोषः। यतोऽत्र गाढरचनासम्भवात् सत्यप्योजोगुणे न कोऽपि सहृदयः पद्यमिदं काव्यत्वेन मन्यते। अतो वामनस्य गुणालङ्कारविवेचनं न चारुतरम्।

एवं मम्मटः पूर्वेषामाचार्याणां मतं निराकृत्य गुणालङ्कारयोर्भेदविषयकं स्वकीयं सिद्धान्तमेवम्प्रत्यपादयत् :— कथितं मम्मटेन यद् गुणालङ्कारयोरयमेव भेदो यत्र रसस्तत्रैव गुणास्तिष्ठन्ति, यत्र च रसाभावस्तत्र गुणाभावः। ते च गुणाः सन्तं रसमुपकुर्वन्ति। एतदेवोक्तं तेन—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ इति।

अर्थाद्यथाऽऽत्मनः शौर्यादयो धर्मा गुणास्तद्वदङ्गिनो रसस्य ये धर्मास्ते गुणाः कथ्यन्ते, ते च रसस्योत्कर्षकारकाः स्थितिसापेक्षाश्च। एवं हि गुणानां लक्षणत्रितयं फलति—

१—रसोत्कर्ष-हेतुत्वे सति रसधर्मत्वम्,
२—रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्,
३—अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वञ्चेति ।

परमलङ्कारास्तु प्रायो रसोत्कर्षका एव, न रसधर्माः, न च रसाव्यभिचारिस्थितिकाः । यथा कयाचित् कामिन्या कण्ठ-भुजादिषु परिधृता हारादयोऽलङ्काराः प्रथमं कण्ठ-भुजाद्यङ्गानि चमत्कुर्वन्ति, ततः कण्ठभुजादिभिस्तैरङ्गैः कामिनीं विभूषयन्ति, न साक्षात्सम्बन्धेन तामलङ्कुर्वन्ति, तथैवोपमानुप्रासादयोऽलङ्काराः पूर्वं शब्दार्थावलङ्कुर्वन्ति, ततस्तद्द्वाराऽङ्गिनं प्रधानं रसमुपकुर्वन्ति । यत्र च नास्ति रसस्तत्र केवलं शब्दानर्थान् वाऽलङ्कुर्वन्ति । कुत्रचिच्च सत्यपि रसे विजातीयत्वेन न तं रसं स्वल्पमप्यलङ्कुर्वन्ति कुसुमसुकुमारकोमलां ललनां ग्रामीण-भूषणानीव । अतो एवोक्तं मम्मटेन—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ इति ।

एवमम्मटाचार्यस्य सिद्धान्तभूतेन मतेन गुणालङ्कारयोः सोऽयं पारस्परिको भेदः फलितो भवति—

गुणाः १—रसधर्माः, २—रसैः सह अचलस्थितयः, ३—रसोत्कर्षहेतुकाश्च ।

अलङ्काराः १—न रसधर्माः किन्तु शब्दार्थयोरस्थिर-धर्माः, २—न रसैः सह नित्यस्थितयः, प्रत्युत नीरसेष्वपि तिष्ठन्ति, ३—कुत्रचिद्रसैः सह स्थित्वाऽपि यत्र तत्र हि शब्दार्थद्वारा रसमुपकुर्वन्ति, क्वचिन्नापि च रसमुपकुर्वन्तीति ।

त्रिषु गुणेषु विंशतिगुणानामन्तर्भावक्रमः

आसीत् पूर्वं साहित्यविदामपि सतां विचारस्वातन्त्र्यम् । काव्यगुणगणगणनायामपि ते स्वाच्छन्द्यमेवावालम्बन्त । यतः केनचन त्रिंशद्गुणाः केनचिच्चतुर्विंशतिगुणाः, परेण नवदश गुणाः, अपरेण च दश वा अष्टावेव गुणाः स्वीकृताः । यस्य मानसे यदागतं तेन तदेव लिखितम्, किन्तु ख्रिस्तस्यैकादशशताब्द्यां लब्धजनुषा मम्मटविदुषा नेदं गुणविषयकं विचारस्वाच्छन्द्यं द्रष्टुमशक्यत । अतोऽयं पाण्डित्यपूर्णैःप्रमाणैर्युक्तियुक्ताभिश्च स्वोक्तिभिः पूर्वम्प्रचलितानि तानि सर्वाणि गुणगणना-मतानि खण्डयित्वा सर्वाधिकप्रचारमुपगतानां दश-शब्दगुणानां दशानां चार्थगुणानां कञ्चन गुणं दोषस्याभावमात्रं, कञ्चिद्गुणमपरगुणस्यान्तर्गतं, कमपि वैचित्र्यमात्ररूपं, कमप्यलङ्कारमात्रं, कमप्यथ दोषमेव सप्रमाणमुपस्थाप्य सर्वविधकाव्यरचनाः केवलं कोमल-कठोर-व्यञ्जनार्थानु विभज्य च ता माधुर्ये, ओजसि प्रसादे चैतेषु त्रिष्वेव गुणेषु समाविष्टाश्चकार । मम्मटस्यास्यैताः सार्थका युक्तीः स्वीकर्तुं तदुत्तरकालिकैर्विश्वनाथ-जगन्नाथ-प्रभृतिभिरपि विद्वर्गैरभूयत । सर्वे एव मम्मटमतमन्वसरन् । मम्मटेन स्पष्टमुद्घुष्टम्-

"माधुर्यौजः - प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश" इति ।

अर्थान्नामतोऽभिन्नाः परं लक्षणतस्तु भिन्ना ये खलु दश शब्दाश्रिता दश चार्थाश्रिताः पूर्वाचार्यैः स्वीकृता गुणाः सन्ति ते माधुर्ये, ओजसि प्रसादे चेति त्रिष्वेव गुणेष्वन्तर्भवन्ति। नेमे दश भिन्ना भिन्नाः सन्ति। अमी नामतो यथा—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः - कान्ति-समाधयः॥ इति।

एषाम्प्रथमं शब्दगुणानां माधुर्यौजःप्रसादाभिधेषु त्रिषु गुणेष्वन्तर्भावक्रमोऽत्र प्रदर्श्यते—

तत्र मम्मटसम्मते ओजोगुणे प्राचामनेकपदानां सन्धि-समासादिभेदेनैकपदवत्प्रतीतिरूपः श्लेषः, आरोहावरोहक्रमरूपोऽर्थात् काव्यरचनायां पूर्वं गाढत्वं ततः शैथिल्यमेवंविधः समाधि-गुणः, ओजोमिश्रितशैथिल्यरूपोऽर्थाद्रचनायां पूर्वं शैथिल्यं ततो गाढत्वम्, अत्र क्रमभेदेनैव समाधितो भिन्नः — एतल्लक्षणः प्रसादः विकटत्वलक्षणा कठिनाक्षरवत्युदारता चान्तर्भवति। अत्रेदमप्यवधेयं यद् गाढबन्धत्वलक्षणस्य प्राचामोजसोऽपि मम्मट-सम्मते ओजोगुण एवान्तर्भावः। यतो हि प्रसादलक्षणे ओजो-मिश्रितत्वमुक्तं, लक्षणञ्चौजसो गाढत्वमेव वर्तते। अतः प्रसाद-स्यौजस्यन्तर्भावस्तेन स्वीकृतो मम्मटेन। एवं सति प्राचामोजसो-ऽप्यस्यैवौजस्यन्तर्भावः समुचितः।

अथ मम्मटस्वीकृते माधुर्ये प्राचां पृथक्पदत्वरूपं माधुर्य-मन्तर्गच्छति। अर्थव्यक्तिगुणस्य तु मम्मटस्वीकृते प्रसादगुणे समावेशः। अर्थात् "श्रुतिमात्रेण शब्दात् येनार्थप्रत्ययो भवेत्। साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः" एतल्लक्षणवति प्रसादे स्वीकृतेऽर्थव्यक्तेरावश्यकतैव न तिष्ठति। अथ मार्गभिदरूपाया

अर्थात्समारब्धमार्गापरित्यागरूपसमतायाः सर्वत्र स्थितिर्दोष एव न गुणो, यत एकस्मिन्नपि पद्ये प्रतिपादित-विषयानुकूलतया भिन्नभिन्नरचनाया एवावश्यकत्वं न पुनरेकस्या एव। यथा 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैरम्बुदाः' इत्यादौ मातङ्गादि-वर्णनरीत्याः सिंहाभिधाने त्याग एव गुणः। यदि सिंहाभिधानेऽपि कोमलरचनायाः स्थितिश्चेत्तर्हि दोष एव। अथ चापारुष्यरूपः=कठिनाक्षराभावरूपः सौकुमार्यगुणः, औज्ज्वल्यरूपः=ग्राम्यपदाभावरूपः कान्तिगुणश्च कष्टत्व-ग्राम्यत्वदोषयोरभावमात्रमेव। एवं हि प्राचां दश शब्दगुणास्त्रिषु गुणेष्वन्तर्भूता ज्ञेयाः।

अथ पुनर्ये दश अर्थगुणास्तेषु—

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

इत्युक्तदिशा पञ्चविधा प्रौढिरेवौजः – इत्यभिप्रैति [illegible]

[illegible]

अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपोदारता चेत्येते प्राग्भिः स्वीकृता गुणाः क्रमशः — अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वामङ्गलरूपाश्लीलत्व-ग्राम्यत्वदोषाणामभावेन गतार्था भवन्तीति नैतेषां गुणत्वम्। वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपोऽर्थव्यक्तिगुणः स्वभावोक्त्यलङ्कारे स्वीकृते वैयर्थ्यं याति। दीप्तरसत्वरूपोऽप्यर्थस्य स्फुटत्वरूपकान्तिगुणो रसध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां स्वीकृतः, नैतस्य

काचन स्वतन्त्रसत्ता तत्रैवैतस्य गतार्थत्वात् । एवमेवावैषम्यरूपः समतागुणोऽपि भग्नप्रक्रमदोषाभाव एव, न गुणः। यतो जाते हि भग्नप्रक्रमे न केवलं काव्यमेव दूषितं भवत्यपितु कवेरपि यशो नश्यति । अत एवोक्तं मम्मटेन—"का खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात्" इति । अथ चार्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः, यतः समाधिर्हि कवेरन्तःकरणस्यज्ञानं वस्तुमात्रम्, तच्च कवितायाः कारणं, न धर्मः (गुणः) । अतः समाधिरपि गुणेष्वन्तर्भावं नार्हति । अत इमेऽर्थगुणा अपि न पृथगात्मनः स्वतन्त्रसत्तां बिभ्रति ।

एवमनया प्रतिपादितदिशा मम्मटाभिमतास्त्रय एव माधुर्योजःप्रसादाभिधा गुणाः सिध्यन्ति, न पुनर्विंशतिगुणाः ।



काव्यदोष-विवेचनम्

काव्येन निर्दुष्टेन भाव्यमिति काव्यकारैरपि दोषवारणे परमयत्नैर्भाव्यम् । परं स्वरूपपरिचयमन्तरेण हेयोपादेयताया ज्ञानस्याभावः । अतो मम्मटः प्राह — 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' इति । मुख्यो यो रसस्तस्यापकर्ष एव दोषशब्देन वाच्यो भवति । एवञ्च रसापकर्षकत्वं दोषत्वमिति निष्कर्षः । अत एव दर्पणकारेण भणितम् —'रसापकर्षका दोषाः' इति ।

एवं यदि रसापकर्षकत्वमेव दोषत्वं स्वीक्रियते, तदा कथं नाम वर्णशब्दार्थगतत्वं दोषस्य प्रतिपाद्यते ? अतो मम्मटेन पुनः कथितम् 'रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः' अर्थादर्थद्वारैव रसप्रादुर्भावः, अर्थमन्तरेण रसस्य काव्यप्रवृत्ति-निमित्तत्वविरहः। सत्येवं कथङ्कारं शब्दगतत्वव्यवहृतिर्दोषाणां, तेषां रसार्थगतत्वव्यवस्थापनात् । अतः कारिकार्धेन भूयः प्रतिपादितं मम्मटेन — 'उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः' अर्थाद्रसवाच्ययोरुपकारकाः शब्दादयो भवन्ति तेन हेतुना शब्द-वर्ण-रचनादिष्वपि दोषो भवति । शब्दा हि रसप्रतीतिसहकारिणः । यदि रसानुकूलशब्दविन्यासो न स्यात्तदा सहृदयानां रसप्रतीतिरेव न स्यात्, रसप्रतीतिमन्तरेण च काव्यत्वस्यैवानुदयः। अत एव दूषकताबीजं सामान्यतस्त्रिविधं — मुख्यार्थस्य अप्रतीतिः,मुख्यार्थस्य अपकर्षः, मुख्यार्थस्य विलम्बेन प्रतीतिश्च ।

अयं भावः — यद्यपि दोषा रसापकर्षका एव, तथापि रसस्याश्रयत्वादर्थस्यापि दोषाः, रसार्थयोरुभयोरुपयोगित्वाच्च शब्दादीनामपि दोषा भवन्ति । एवं दोषाणां पाञ्चविध्यं भवति - पददोषाः, वाक्यदोषाः, पदांशदोषाः, अर्थदोषा रसदोषाश्च । यद्यप्यलङ्कारदोषा अपि भवन्ति किन्तु त एतेष्वेवान्तर्भाव्यन्ते । उपर्युक्तेषु केवलं पदगता अपि दोषा भवन्ति — असमर्थ-च्युतसंस्कारादयः। पदवाक्यगता दोषाः अपि भवन्ति—अश्लीलाप्रयुक्तनिहतार्थादयः ।केवलं वाक्यगताः अपि दोषा भवन्ति — भग्नप्रक्रम-पतत्प्रकर्ष-समाप्तपुनरात्तादयः । अर्थदोषाः—अपुष्ट-कष्ट-व्याहतत्वादयः । रस-स्थायि-सञ्चारिणां स्वशब्दवाच्यत्वादयो रसदोषाः कथ्यन्ते ।

त एते दोषा द्विविधाः— नित्या अनित्याश्च । समाधातु-

मशक्यो नित्यश्च्युतसंस्कृत्यादिः । तदन्यस्त्वनित्यो यथा शृङ्गारादौ हेयोऽपि श्रुतिकटुदोषो रौद्रादावुपादेय एवेति । अत्रेदमवधेयम्, यत् काव्यं हि पुरुषविशेषत्वेन स्वीकृतमाचार्यैः । अतः काव्यपुरुषस्य शरीरं वाक्यं, तदन्तर्गत आत्मा च रसः । तत्र कतिपये दोषा आगन्तुकाः, कतिपये च पुनर्जन्मसिद्धाः । तेष्वपि कतिचन शरीरगताः, कतिचनात्मगताः । अतः काव्यदोषा अपि पदनिष्ठाः, वाक्यनिष्ठाः, नित्याः अनित्यादयश्च बहुविधा भवन्ति । तत्रागन्तुकाः प्रायोऽनित्याः,जन्मसिद्धाः प्रायो नित्याः । एष्वपि कतिपये शरीरगता यथा आगन्तुका वातप्रकोपादयः । जन्मसिद्धा दुर्मुखत्वादयः । एवं दुःश्रवत्वादयो वाक्यमात्रावष्टम्भा अनित्याः, च्युतसंस्कारादयो नित्याः — इत्यलम् ।

श्लेषस्य विश्लेषणम्

ननु सकृदुच्चारितः शब्दः सकृदेवार्थबोधको भवतीति नियममनुसृत्य यावन्तोऽर्थास्तावद्भिरेव शब्दैर्भाव्यम् । अतो नानार्थबोधाय शब्दानामपि नानात्वम् । तादृक्समानाकाराणां नानाशब्दानां 'काव्यमार्गे स्वरो न गम्यते' इति नियमेन स्वरभेदं सत्त्वेऽप्यगणयित्वा तद्भेदं युगपदुच्चारणविषयतया यद्भिन्नस्वरूपस्याग्रहो भवति स श्लेषः । एवञ्चैकोच्चारणापह्नुतभेदकभिन्नार्थकसदृशनानात्वं श्लेषः इति फलितोऽर्थः ।

सोऽयं श्लेषः सामान्यतस्त्रिविधः । क्वचिद् द्वयोः प्रकृतयोः, क्वचिद् द्वयोरप्रकृतयोः, क्वचित् प्रकृताप्रकृतयोरिति त्रिविधोऽप्ययं पुनर्द्विविधः — शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति । तत्र शब्दश्लेषः शब्दालङ्कारः, अर्थश्लेषोऽर्थालङ्कारश्चेति भट्टमम्मटस्तदनुयायिनः प्रदीपकारादयश्च । द्वयमपि शब्दालङ्कारः — इत्यन्ये केऽपि । द्वयमप्यर्थालङ्कारः — इत्यलङ्कारसर्वस्वकारादयः । सोऽयं प्रकारान्तरेण द्वैविध्यं लभते, तत्र हि शब्दश्लेषस्तावत् स्वरितादिगुणभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया भिन्नानां शब्दानां बन्धे जतुकाष्ठन्यायेन शब्दयोरेव श्लिष्टत्वात् । यथा — "पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्०" इत्यादौ शब्दश्लेषः । अर्थश्लेषस्तु स्वरितादिगुणाऽभेदादेकप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दभेदाभावादेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थयोरेव श्लिष्टत्वात् । यथा — "योऽसकृत्परगोत्राणाम्०" इत्यादौ ।

अयम्पुनः श्लेषो द्विविधः सभङ्गोऽभङ्गश्चेति । द्विविधोऽप्यसावर्थसापेक्षतयाऽर्थालङ्कार एवेत्यलङ्कारसर्वस्वकारादयः । अत्र पूर्वपक्षे कोटित्रयम् — अभङ्गश्लेषस्यार्थालङ्कारत्वमित्येका कोटिः, श्लेष उपमाद्यलङ्कारबाधकः — इत्यपरः, उभयरूपत्वाद्यलङ्कारः — इति स्वन्ये ।

अत्रेदं किमपि विचार्यते । अभङ्गोऽसौ श्लेषः स्वरितादिगुणभेदाभावाद्, अर्थचमत्कारानावाद्, एकप्रयत्नोच्चार्यत्वाच्च कथं नार्थश्लेषत्वेन स्वीक्रियते ?' परन्तम, दोषगुणालङ्कारविभागस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । शब्दपरिवृत्तिसहे 'स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्" इत्यादावेवार्थश्लेषस्य सत्त्वात् ।

अयं श्लेषः 'उपमादीनां श्लेषालङ्कारान्तर-सङ्कीर्णत्वेन श्लेषस्य चालङ्कारान्तर-सङ्कीर्णत्वेन नैवोपमाद्यलङ्काराणां बाधकः, गुणक्रियासाम्यमिव शब्दसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजकत्वात् "स्फुटमर्था-

लङ्कारावेतौ" इति रुद्रटोक्तवचनप्रामाण्याच्च । अथ 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इत्यपि न, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः । "देव त्वमेव पातालम्" इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारभिन्नो विषयो वर्तते । द्वयोर्योगे सङ्करः । वस्तुत उपमाव्यपदेश एव साधीयान्, प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति सर्वसाधारणो नियमः । विना श्लेषावलम्बनं साधारणधर्मस्य कुतः सम्भवत्वम् ? तं विना तूपमायाः प्रवेश एव न । यतः कथयन्ति सिद्धान्तविदः "साधर्म्यमुपमा भेदे" इति ।

"अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका" इत्यादौ न विरोधज्ञानोत्पत्तिहेतुकः श्लेषः, प्रत्युत श्लेषज्ञानोत्पत्तिहेतुको विरोधो विद्यते । न ह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः श्लेषः, द्वितीयार्थस्य प्रतिभानमात्रस्य शाब्दबोधाविषयत्वात् । ननु मया विधश्लेषस्यार्थालङ्कारत्वं स्यादिति चेन्न वदतो व्याघातात् । कथ्यते शब्दश्लेषो गण्यते चार्थालङ्कारमध्येन अन्यच्च, चमत्कारजनकता यत्र भवेत्तस्यैवालङ्कारत्वं समुचितम् । शब्दस्य चमत्कारजनकत्वे शब्दालङ्कारत्वमेव समुचितम् । अर्थसापेक्षत्वादत्र शब्दानामर्थश्लेषः । अर्थसापेक्षितत्वेऽप्येतेषु शब्देषु च वर्णानुप्रासस्य रसादिव्यञ्जकत्वरूपवर्ण्यविशेषापेक्षितत्वेन यमक-लाटानुप्रासादीनां चान्ते सुतरामर्थता । तदा त्वनुप्रासादीनामर्थालङ्कारत्वं स्यात् । अर्थादनुप्रासादीनामप्यर्थालङ्कारत्वं भवेत् । यतो ह्यनुप्रासो रसानुगतः प्रकृष्टो न्यासो निगद्यते । अतः स रसव्यञ्जकं स्वरूपमपेक्षते, रसश्च विनार्थं कुतः स्यादिति । एतदतिरिक्त शब्द-गुणदोषाणां चाप्यर्थापेक्षयैवार्थकृतगुणदोषता स्वीकार्या । अर्थाच्छब्दगुणदोषालङ्काराणामर्थापेक्षया, अर्थ-गुणदोषालङ्काराणाञ्च शब्दापेक्षया व्यवस्थितिरिति तेऽपि क्रमेण तथैव वाच्याः । अन्यत्र "विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी" —

त्यत्र ब्रह्मणो वाचको विधिशब्दः। तस्य सप्तम्येकवचने सिद्धं 'विधौ' इति रूपं भिन्नम्, चन्द्रस्य वाचको विधुशब्दस्त्वन्यः। तस्य सप्तम्येकवचने आदेशिनि भेदेऽप्यादेशस्य समानाकारतया युगपदुच्चारणे तद्भिन्नस्वरूपस्याग्रहो भवति। अत एव श्लेषः, शब्दालङ्कारश्चायम्। परमुपयुक्तेऽस्मिन् पद्ये वर्णादिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वाच्छब्दभेदेऽप्यर्थश्लेषत्वं प्रसज्येत, तस्मादभङ्गश्लेषोऽर्थालङ्कार एव, अलङ्कारान्तरस्य चाबाधकः – इति।

अत्रायं भावः। अलङ्कारशास्त्रे खलु दोषाणां गुणानामलङ्काराणाञ्च शब्दगतत्वेनार्थगतत्वेन च यो विभागः कृतो वर्तते स अन्वयव्यतिरेकव्यवस्थयैव कृतोऽस्ति। यत्र हि यच्छब्दस्य सत्तायां येषां सम्भवस्तत्परिवर्तने च येषां निरासस्तत्र शब्दगतत्वं, तेषां शब्देन सहान्वयव्यतिरेकात्। अर्थात्पर्यायान्तरपरिवृत्त्यसहत्वं शब्दगतत्वमिति। यथा कष्टत्वादयो दोषाः, गाढत्वादयो गुणाः, अनुप्रासादयश्चालङ्काराः शब्दगताः। यत्र च पुनस्तच्छब्दानां परिवर्तनेऽपि तेषां सत्ता तिष्ठति, अर्थाच्छब्दैः सह येषामन्वयव्यतिरेकभावो नास्ति, यत्र पर्यायान्तरपरिवर्तनसहत्वं तत्रार्थगतत्वमिति। यथा व्यर्थत्वादयो दोषाः, प्रौढत्वादयो गुणाः, उपमादयोऽलङ्काराश्चार्थगताः। तेन हि "स्वयञ्च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता" इत्यादौ शब्दानां भङ्गमकृत्वैवोभयार्थ-प्रतिपाद्यतया अभङ्गः शब्दश्लेषः। 'प्रभात-सन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा" इत्यादौ शब्दानां भङ्गं विधायैवार्थद्वयप्रतीतिकत्वमिति सभङ्गः शब्दश्लेषश्चेति द्वयोरेवोदाहरणयोः शब्दानां परिवर्तने नहि श्लेषावकाशः। अत एवोभयोरेव शब्दपरिवृत्त्यसहतया शब्दालङ्कारत्वमेवोचितम्। नहि आद्यस्यार्थश्लेषत्वमिति सम्यक्। यत्र च शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वं निवर्तते तत्र पृथक्-विषयत्वमर्थश्लेषस्येति प्रतिपादितमेव।

अत एव हि तस्य भिन्नविषयत्वम् । यथा "स्तोकेनोन्नतिमायाति०" इत्यादौ तत्तच्छब्दानां परिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वहानिरित्यत्रार्थश्लेषत्वम् ।

यच्चोच्यते, "स्वयञ्च०" इत्यादौ पद्ये उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः इति, तदप्ययुक्तम् । यतः साधर्म्यञ्च श्लेषेण, ततश्च श्लेषः उपमायाः साधकः । "कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितराम्०" इत्यादौ मनोज्ञत्वरूपस्य गुणस्य दीप्तित्वरूपायाः क्रियायाश्च साम्ये सति यथोपमा तथा "सकलकलं पुरमेतत्" इत्यादावपि शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव, साधर्म्यमात्रस्योपमाप्रयोजकत्वात्, तस्य साम्यस्य चार्थरूपस्येव शब्दरूपस्याप्यविशेषेण सम्भवात् । अत्र रुद्रटोऽपि प्रमाणीभूतः । एते हि उपमासमुच्चयादयोऽलङ्कारा अर्थालङ्कारा एव । किन्त्वेते शब्दमात्रसाम्यं गृहीत्वापि सम्भवन्ति । अत एव बुद्धिस्थोपमायां सामान्यापेक्षायां श्लेषस्य बुद्ध्यारोहेण तत्कृतोपमा-निरुह्यमाणकाव्ये प्राधान्येनोपमाकृत एव चमत्कारः,श्लेषस्य तु प्रतिभानमात्रम् । तद्दशायाञ्च तयोरङ्गाङ्गिभावादप एव स्फूर्तं पुनर्बाध्यबाधकभावः, अन्यथा पूर्णोपमाया अपहार एव स्यात् ।

स्वमेव देव पातात०" इत्यादौ श्लेषस्योपमाद्यलङ्कारान्तरविविक्तो विषयः । अत एव यत्रान्यैरलङ्कारैः सह श्लेषोऽपि तिष्ठति तत्र तत्तदलङ्कारकृत एव काव्यव्यवहारः, श्लेषस्य तु प्रतिभानमात्रम् ।

उपमैका शैलूषी

नैव सङ्केतमात्रेण सर्वत्र कार्यं प्रचलतीति सर्वे एव लोका आत्मनो मनोभावानां स्फोताभिव्यक्तये भाषामाश्रयन्ते। यदि कस्यचन मानसे स्वविचारसर्गविषये स्थायित्वदित्सा जागर्त्ति तर्हि तेन लेखन्याः शरणमप्यवश्यं ग्रहीष्यत एव, किन्तु भाषायां लोकोत्तरचारुता तस्याः सुन्दरसुसज्जाया उपकरणानामभावे अपूर्णावतिष्ठते। यैर्यैरुपकरणैश्च भाषायां हृदयग्राहिताया एवं विशिष्टविच्छित्तेरुत्पत्तिर्जायते तेष्वलङ्काराणां प्रमुखं स्थानं वरीवर्त्ति।

अलङ्कारपदे हि शब्दद्वयं संनिविष्टं विद्यते — अलं, कारश्चेति। यस्य वाच्यार्थो भवति शोभाकारकः। यथा हि लोके कामिनीकलेवरे परिधृता मुक्ताहार-काञ्ची-कङ्कणादयो विभिन्ना अलङ्कारास्तस्याः सौन्दर्यवृद्धिं वितन्वन्ति तथैव काव्य-शास्त्रीया इमे रूपकोपमादयोऽप्यलङ्कारा गद्यात्मिकायाः पद्या-त्मिकायाश्च कविताकामिन्याः शोभायां कामप्यपूर्वां वृद्धिं संसृजन्ति। अत एव 'सौन्दर्यमलङ्कारः' 'अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः', इत्यादीनि साहित्याचार्याणां वचांसि सत्यत्वमवगाहन्ते। वस्तुतो ह्यलङ्कारैः साधारणरचनायामप्यपूर्वा विच्छित्तिरायाति। न केवलं साहित्यविदोऽन्ये वा शिक्षिता एव प्रत्युत साधारणा अपि लोका आत्मनो मनोभावेषु सौन्दर्यं हृदयग्राहिताञ्चाधातु-मालङ्कारिकीं भाषामवलम्बन्ते।

काव्यत्वं हि शब्दार्थोभयनिष्ठं भवतीति शब्दार्थयोश्च-मत्कारानुसारमलङ्कारा अपि द्विविधा भवन्ति — शब्दनिष्ठ-चमत्काराः शब्दालङ्कारा अर्थनिष्ठचमत्काराश्च अर्थालङ्काराः। यत्र चमत्कृतिरुभयनिष्ठा भवति तत्रोभयालङ्कारनामकस्तृतीय-भेदोऽपि भवति। अलङ्काराणां त्रिविधेऽत्र प्रस्थानेऽर्थालङ्का-राणामेव विशिष्टं व्यापकं च स्थानं वर्तते। एतेष्वप्युपमाया एव विशेषं प्राधान्यं वरीवर्त्ति यतः इयमेव विभिन्नशैलीभिरभिव्यक्ता सती भिन्न-भिन्नानामलङ्काराणां स्वरूपं धत्ते। अत एवालङ्कार-शास्त्रस्य परमपारदृश्वा आचार्यः श्रीमदप्पयदीक्षितश्चित्र-मीमांसायां लिलेख—

"उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ इति।

अर्थादुपमालङ्कृतिरेका नटीसमाना अस्ति या हि विभिन्ना वेषभूषा धार्यं धार्यं विभिन्नानामलङ्काराणां स्वरूपे प्रकटीभूय काव्यरङ्गमञ्चे नृत्यन्ती सहृदयानां मनोरञ्जनं विदधातीति। यथा—

१—भारतदेशः स्वर्गः इव सुखप्रदो वर्त्तते — पूर्णोपमा

२—भारतदेशः स्वर्गः इव वर्त्तते— लुप्तोपमा

३—भारतदेशः स्वर्गः इव, वैकुण्ठः इव च सुखप्रदो वर्त्तते — एकधर्मा मालोपमा

४—भारतदेशः स्वर्गः इव ससुरालयः, वैकुण्ठः इव च सलक्ष्मी-नामोऽस्ति — भिन्नधर्मा मालोपमा

५—भारतदेशः स्वर्गस्य सहोदरोऽस्ति — ललितोपमा

६—भारतदेशः स्वर्गः इव सुखप्रदः, स्वर्गश्च भारतदेश इव सुखप्रदः अस्ति — उपमेयोपमा

७—भारतदेशः इव सुखप्रदस्तु भारतदेश एवास्ति — अनन्वय

८—संसारे नास्ति कश्चन देशो यो भारतदेशस्य समतां कुर्यात् — असमः

९—स्थिते भारतदेशे स्वर्गस्य आवश्यकतैव नास्ति — प्रतीपः

१०—स्वतन्त्रभारतस्य देवाधीनः स्वर्गः कथं समतां कर्तुं शक्नोति —

अथवा

भारतदेशः स्वर्गः इव अवश्यमस्ति किन्तु स्वर्गे केवलं सुखमेवास्ति, भारते तु सुखं स्वातन्त्र्यञ्चोभयं विद्यते — व्यतिरेकः

११—भारतदेशस्य सौख्यं दृष्ट्वैव स्वर्गः स्मर्यते — स्मरणम्

१२—भारतदेशः स्वर्गोऽस्ति — निरङ्गरूपकम्

१३—वस्तुतो भारतदेशः स्वर्गोऽस्ति, यत्र हि पुरुषा देवाः, स्त्रियो देव्यः, कूपोदकममृतं, तरुलताश्च कल्पवृक्षाः सन्ति — साङ्गरूपकम्

१४—भारतदेशः स्वातन्त्र्यगगनाङ्गनस्य प्रभाकरो वर्तते —

अथवा

भारतदेशकेसरिणा पारतन्त्र्यकुञ्जरो हतः — परम्परितरूपकम्

१५—भारतं योगिनः समाधिस्थलं, लोकनायकाः कल्पद्रुमं, वैदेशिकाः स्वर्णगृहं, विद्वांसश्च विद्यास्थलं मन्यन्ते — प्रथमोल्लेखः

१६—भारतदेशो धनकोशे कुबेरवासः, दण्डविधाने, यमालयः, सुखप्रदाने च सुरलोकः कथ्यते — द्वितीयोल्लेखः

१७—अयं नास्ति भारतदेशः, स्वर्गलोकोऽस्त्ययम्—शुद्धापह्नुतिः

१८—अयं नास्ति भारतदेशः, स्वर्गलोकोऽस्त्ययम्, यतोऽत्र गेहे गेहे विबुधाः, सुमनसः, सिद्धाः, विद्याधराः, श्रीपतयः, पुरुहूताः, *धनाधिपाः, कमलाः, गौर्यः, सुराश्च सन्ति — हेत्पह्नुतिः*

१६—नास्त्यसौ स्वर्गः, स्वर्गस्तु भारतदेशोऽस्ति — पर्यस्तापह्नुतिः

२०—भारतदेशमिषेण स्वर्ग एवात्र विलसति — कैतवापह्नुतिः

२१—अयं तु भारतदेशोऽस्ति, दिवौकसः ? कथं व्यर्थं भवन्तोऽत्रायान्ति — निश्चयः

२२—अय भारतदेशोऽस्त्यथवा स्वर्गो वैकुण्ठो वा — ससन्देहः

२३—भारतं स्वर्गमवगत्यैव विबुधाः, सिद्धाः, सुराधिपाः, श्रीपतयश्चात्रागताः — भ्रान्तिमान्

२४—भारतस्य साम्यमुपलब्धुमिव स्वर्गः सदा सुरपतिमुपास्ते— उत्प्रेक्षा

२५—भारतदेशस्य सौख्यं तु किमप्यन्यदेव —भेदकातिशयोक्तिः

२६—भारतस्य महिमानं वक्तुं स्वर्गे चतुर्मुखो ब्रह्मापि न समर्थः — सम्बन्धातिशयोक्तिः

२७—भारतेन सह स्वर्गः कश्चन अन्यदेशो वा यो मैत्रीं पालयति, यश्च द्वेषं कलयति, यो वा ताटस्थ्यं प्रदर्शयति सर्वान् प्रति भारतदेशोऽयं समान एवास्ति — तुल्ययोगिता

२८—भारतदेशः पतितोद्धरणे, प्रजापालने, नीतिनिर्वाहे, स्वातन्त्र्यसंरक्षणे च अपूर्वक्षमतां बिभर्ति — दीपकः

—भारतं प्राप्य वयं सन्तुष्टाः स्म,स्वर्गं लब्ध्वा च देवाः सुखिनः सन्ति — प्रतिवस्तूपमा

०—भारतसाम्योपलब्धये स्वर्गस्य यत्नो मृत्तिकातस्तैलप्राप्तिरस्ति — निदर्शना

एवमेव स्वल्पपरिवर्त्तनेनैकमेवोपमावाक्यं विभिन्नानामलङ्काराणां स्वरूपं धत्ते। दिग्दर्शनमात्रमिदम् । अत एवोच्यते—उपमैका शैलूषी" इति ।

काङ्कर-नवलकिशोर-व्याम-मधुसूदनाप्त-सद्धियः
वृन्दावनमधितिष्ठन्नलिलेखोत् "शास्त्र-सर्वस्वम्" ॥

श्रीमद्वाजसनेय-शुक्लयजुषो माध्यन्दिनाम्नायवित्,
श्रौतस्मार्त्त-विधानधीस्त्रिप्रवरो गोत्रेण वासिष्ठकः ।
गौडब्राह्मणवंश-लब्धजननो यः काङ्करोपाह्वकः,
सोऽयं याचति सत्कृपां हि "नवलः" शास्त्राब्धिपारङ्गतान् ॥

ति म०म० श्रीनवलकिशोरकाङ्करलिखितं शास्त्रसर्वस्वं समाप्तम्।

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
८	१६	कात्स्न्येंन	कात्स्न्येंन
२६	६	लोकमन्तु	लोकयन्तु
६१	१८	अहोरात्रवदि	अहोरात्रवादे
७२	४	नामाभिः	नामभिः
७४	१८	पुरुप	परुप
७६	१	प्रयुक्ता	प्रयुक्तो
८७	१३	ब्रह्मा एक	ब्रह्म । एकं
८८	१४	गृह्णीय	गृह्णीयो
९८	७	शञ्जायमानेन	सञ्जायमानेन
१०७	९	सन्तण	सन्तरण
११३	३	सेय	सेयं
११३	१७	याग	योग
११५	१६	तदस्यास्त्या	तदस्यास्त्य
११९	२४	गणाना	गणना
११९	२४	वद्धि	बुद्धि
१२१	१०	ऽयमकूपारो	ऽयमकूपारो
१२२	६	पूर्णावित्रमन्तरेण	पूर्णावतारः
१२८	१८	पतितां	पातितां
१२९	३	श्रीमान्	श्रीमन्
१३१	८	अनुमाय	अनुमोय
१३२	२१	मवच्छेः	मवगच्छेः

१३४	४	पर्यथस्य	पर्यस्य
१५२	४	मनुष्यं-	मनुष्य-
१६१	६	-मस्त	मस्तु
१६८	१७	शांव्दवोघः	शाव्दवोघः
१७६	५	चाय्वहं	चाहतावहं
१७६	१५	करणा	करण्या
१८०	१८	प्रवाहावि	प्रवाहादि
१८१	१	सम्धेन	सम्बन्धेन
१८२	७	अन्यान्य उदरयानि	अन्यान्युदाहरणानि
१८३	४	आरोपाघ्यसान	आरोपाध्यवसान
१८८	७	लक्षण	लक्षणा
१८६	४	पर्यवसानारवात्	पर्यवसानत्वात्
१६१	२१	साहश्यस्य	साहश्यस्य
१६१	२३	साहश्रयास्यसम्भवात्	साहश्यस्यासम्भवा
१६२	५	वित्वं	विधत्वं
१६४	२	अगूढ	गूढ
१६८	८	वोद्ध	वोद्धृ
२०८	८	स्थिता	स्थितो
२०६	१२	पुनलक्षणा	पुनर्लक्षणा
२१०	१६	मर्हिति	मर्हति
२२१	५	भूते इव	भूतेव
२२३	६	तत्तस्यायि	तत्तत्स्यायि
२३०	११	एवस्य	एवास्या

एतदतिरिक्तमन्याश्चापि बह्व्योऽशुद्धयः प्रूफपत्रनिरीक्षणोपेक्षया विहिता वर्त्तन्ते, परं नैव ता भ्रमकारिण्यो भावबोधने क्लेशकराश्चेति क्षन्तव्याः ।